अनुक्रम

ЖЖ

प्रस्तावना

प्रायः साधक भक्त एवं योगी परमात्म दर्शन, आत्म साक्षात्कार अथवा ईश्वर दर्शन के लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं, किन्तु सफलता प्राप्त नहीं होती है । साधक सोचते हैं परमात्मा नाम का कोई विशेष आकार, रूप, शक्ति सम्पन्न व्यक्ति होगा, जिसे हम किसी साधन से प्राप्त कर लेंगे ।

परमात्मा (आत्मा) अद्वितीय है । दो आत्मा नहीं है, जो एक के द्वारा दूसरा प्राप्त कर लिया जावे । दूसरे को देखने के लिये सर्व प्रथम द्रष्टा का होना जरूरी है, साथ उस द्रष्टा को चेतन होना भी परमावश्वक है । जड़ पदार्थ न द्रष्टा है न चेतन । अब जिसे भी आप जानना, देखना चाहेंगे वह आपसे भिन्न अवश्य जड़ एवं दृश्य ही होगा, इसलिये वह आत्मा नहीं हो सकेगा । सबको जानने वाला सबको प्रकाशित करने वाला, सब में रहकर सबके मन की जानने वाला राम आप स्वयं आत्मा ही हैं । आत्मा के अतिरिक्त आप कुछ भी नहीं हैं ।

मृग अपने नाभि स्थित कस्तूरी की सुगन्ध को जैसे अन्य पदार्थ की सुगन्ध मान खोजता फिरता दुःखी एवं निराश हो मर जाता है, किन्तु वह कस्तूरी प्राप्त नहीं कर पाता है । इसी प्रकार आप भी अपने परमात्मा स्वरूप को भुलाकर मन के साथ-साथ इधर-उधर आत्मसाक्षात्कार हेतु खोज करते रहते हैं, किन्तु जीवन में निराशा ही प्राप्त होती है ।

आत्मा तुम स्वयं हो, जो मन का साक्षी है । जो मन की अवस्था को सब समय जानता है, वही आत्मा राम तुम हो । व्यवहार में भी लोग सहज कहते पाये जाते हैं कि भाई ! मन की जाने राम !

तुम ही वह लक्ष्यवस्तु हो जिसे अनादि से पाने हेतु मन व इन्द्रियों के आगे-आगे भाग रहे हो । जो मन के पीछे है, जो मन का प्रकाशक है वह मन के सम्मुख दृश्य रूप में कभी नहीं हो सकेगा । मैंने आत्मसाक्षात्कार नहीं किया ऐसा सोचना ही भूल है । तुम्हारा स्वरूप ही आत्मा है । आत्मा नित्य सिद्ध वस्तु को कहते हैं,

वह कालान्तर में साधन करके मिलनेवाला अनित्य जड़ पदार्थ नहीं है । जो पहले से नहीं, अब साधन करने से आगे मिलेगा, वह पदार्थ सत्य नहीं होगा । जो आज नहीं है, आगे मिलेगा फिर वह धन, पुत्र, पद की तरह नष्ट हो ही जावेगा । वह सदा आनन्द रूप कभी नहीं होगा । व्रत, पूजा, पाठ, मंत्र, माला, तप, दानादि से नित्य सिद्ध आत्मा नहीं जाना जाता ।

भौतिक जगत् में प्रत्येक चल वस्तु के पीछे एक अचल आधार निश्चित रूप से रहता है जो उसे थामे रहता है, पकड़े रहता है । जैसे साइकिल व्हील में एक्सिल, चक्की में कीली, ट्रेन में पटरी (लाइन) अचल रहते हैं । इसी प्रकार मन, इन्द्रिय, प्राण, देह के निरन्तर परिवर्तन के पिछे जो एक अचल सत्ता विद्यमान है, उसे ही ब्रह्म, परमात्मा, आत्मा, राम, कृष्णादि किसी भी नाम से स्वीकार किया जाता है । वह जो देह, प्राण इन्द्रियों व मन के पीछे अखण्ड सत्ता है वही वास्तव में राम है । वही तुम हो ''तत्त्वमसि'' ।

मन की जानने वाला राम यहाँ दशरथ के बेटा, वशिष्ठ मुनि के शिष्य, लक्ष्मण के भाई, सीता के पति, बालि एवं रावण के काल, लंका के विनाशक, अयोध्या के राजा एवं तुलसी के राम नहीं है । यहाँ 'मन की जाने राम' उस सत्ता को स्वीकार किया गया है जो राम-रावण, सीता-सूर्पनखा, दशरथ-बालि आदि में समान रूप से विद्यमान रहते हैं ।

- ***''स्वामी निरंजन''***

● ॐ ●

तुम्ही मन के साक्षी राम

मन के लय या मन के निरोध के लिये आत्म विचार के बिना अन्य कोई यथार्थ उपाय नहीं है । आत्म चिन्तन को छोड़ यदि अन्य उपाय मनोनाश, मनोनिरोध या मनोलय के लिये किये जाएं तो उन-उन साधनकाल में तो मन निरुद्ध-सा प्रतीत होता है, किन्तु उन साधनों से हटते ही मन पुनः

संसारासक्त हो जाता है । प्राणायाम से भी मन तभी तक निरुद्ध रहता है जब तक प्राण निरुद्ध किये बैठे रहेंगे, किन्तु प्राणों के उत्थान होते ही मन अन्तर्मुखी न रह पुनः पूर्ववत् बहिर्मुखी हो वासना, कामना,राग-द्वेष, अपना-पराया, ऊँच-नीच, पुण्य-पाप, शोक-मोह आदि द्वन्द्वों में जहाँ-तहाँ भटकने लगता है ।

अहंकारी मन एवं प्राण दोनों का उद्‌गम स्थान एक ही है । मन एवं प्राण एक वस्तु के आगे पीछे के स्थिर दो छोर की तरह अभिन्न हैं । जब मन स्थिर होता है, तब प्राण भी लय होता है और जब प्राण स्थिर होता है तब मन का भी लय होता है, केवल सुषुप्ति काल में मनोलय होने पर भी देह रक्षार्थ ईश्वरीय नियमानुसार प्राणों की सामान्य गति होती रहती है । जाग्रत तथा समाधि में मन जब लीन होता है तब प्राण की विशेष चन्चलता शांत हो जाती है । प्राण मन का स्थूल रूप कहलाता है । प्रारब्ध भोग पूर्ण होने पर्यन्त मन प्राण को देह में अपने साथ बनाये रखता है और प्रारब्ध भोग पूरा होते ही मन प्राणों को अपना वाहन बना शरीर से निकल जाता है । अतः प्राणायाम मनोनिरोध में सहायक तो है किन्तु यह मनोलय का या मनोनाश का पूर्ण स्वतन्त्र साधन नहीं है । आत्मज्ञानी के प्राण प्रारब्ध भोग पूर्ण होते ही यहीं प्रकृति में लय हो जाते हैं अज्ञानी की तरह ज्ञानी के प्राणों का उत्क्रमण अन्य शरीर में नहीं होता है ।

प्रायः सभी शास्त्रों में जन्म-मरण के दुःखों का मूल कारण एक मात्र मन ही निश्चित किया गया है एवं बन्धन से मुक्ति पाने हेतु मनोनिग्रह, मनोलय, मनोनाश, ही सबका अभिमत है । लेकिन वास्तव में तो ''मैं कौन हूँ'' यह सुविचारणा से ही मन पूर्णतया निरुद्ध हो सकता है । मैं कौन हूँ ? विचार हमारे मन की अनन्त बहिर्मुख वृत्तियों के जाल का छेदन कर एक मात्र आत्माभिमुख करने का सरल उपाय है । जैसे अनन्त इच्छाओं को नष्ट करने

हेतु एक मोक्षेच्छा एवं अनन्त अहं को नष्ट करने के लिये अहं ब्रह्मास्मि रूप अहंकार एक अद्‌भूत साधन है । लकड़ी जैसे शव को जलाकर स्वयं भी शान्त हो जाती है , निर्मली जल के मल को जल से निवृत्त कर स्वयं भी निवृत्त हो जाती हैं, उसी प्रकार ''मैं कौन हूँ'' का विचार अन्य सभी संसारी मिथ्या अभिमानों का भ्रम दूर कर स्वयं भी निवृत्त हो जाता है ।

मन स्वरूप से न शुभ है न अशुभ । जैसे जल का अपना कोई रंग-रूप नहीं उसे जिस रंग एवं बर्तन में ढाल देते हैं, जमा देते हैं उसी प्रकार के रंग एवं आकारानुरूप प्रतीत होता है । उसी प्रकार मन को जिस इन्द्रिय द्वार का संयोग प्राप्त होता है, मन उसी अनुरूप प्रतीत होता है । मन आँख के बर्तन में गिर रूपवत, जिह्वा के बर्तन में पड़ रसवत्, घ्राण के बर्तन में गंन्धवत्, श्रोत्र के बर्तन में गिर शब्दवत् एवं त्वचा के बर्तन में फैल स्पर्श-सा प्रतीत होता है । मन जब शुभ वासनाओं के मार्ग से गुजरता है तो पवित्र, उत्तम, ब्राह्मण, ब्रह्मचारी आदि नाम से पुकारा जाता है एवं जब वह अशुभ वासनाओं के मध्य विचरण करता है तो अशुभ, अपवित्र, अधर्मी, नीच आदि कहलाता है ।

''आहार शुद्धौ सत्व शुद्धिः सत्व शुद्धि ध्रुवा स्मृतिः ।
स्मृति लम्भे-सर्व ग्रथीनां विप्रमोक्ष'' - छान्दोग्य उप. ७/२६

जैसे गुणवाला आहार ग्रहण किया जाता है उसी प्रकार का प्रभाव मन पर भी पड़ता है । कहावत प्रसिद्ध है ''जैसा खाओगे अन्न, वैसा बनेगा मन'' । आहार, व्यवहार, मन्त्र, जप, मूर्ति, ध्यान, त्राटकादी साधन मन को निग्रह करने में तो सहयोगी हैं किन्तु मनोनाश नहीं करा सकते हैं । भूत को वश में करने के लिये जैसे किसी विवेकी पुरुष ने बांस स्तम्भ पर चढ़-उतर का साधन देकर विश्राम प्राप्त किया । इसी प्रकार चंचल मन को परमात्मा के साथ ''सोऽहम्'' स्मरण में लगा इसे वश में किया जा सकता है एवं ऐसे

अनन्त विचारों से चंचल मन को एक सोऽहम् मंत्र विचार पर लगा देने से मन शान्त, स्वस्थ एवं शक्तिशाली हो जाता है जिसके फलस्वरूप वह आत्म विचार सरलता से कर सकेगा ।

जैसे किसी गुफा के हजारों वर्षों का अन्धकार एक क्षण के प्रकाश मात्र से दूर हो जाता है । उसी प्रकार आत्म विचार की प्रगाढ़ता में देहभाव रूप मिथ्या अहंकार स्वतःगल जाता है । अथवा लकड़ी, रूई, घास, पुआल, के पहाड़ में आग की छोटी-सी चिन्गारी पड़ जाने से वह समस्त ईंधन राशि को जला कर समाप्त कर देती है, उसी प्रकार एक क्षण का आत्म चिन्तन अनादिकालीन देहाध्यास रूप अज्ञान अन्धकार को निवृत्त कर आत्म प्रकाश फैला देता है । अस्तु ''मैं महान पापी हूँ'' मन में इस विचार को महत्व नहीं देकर 'मैं ब्रह्म हूँ'', मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त आत्मा हूँ । इस महान श्रेष्ठ पवित्र अग्नि स्वरूप दाहक, एवं प्रकाश स्वरूप महान विचार धारणा को दृढ़ कराना चाहिये ।

जैसे सूर्य के सम्मुख अन्धकार नहीं रहता उसी प्रकार परमात्मा के चिन्तन के सम्मुख पाप भी नहीं ठहर पाता । अतः मैं पापी हूँ, मेरा उद्धार इस जन्म में नहीं हो सकेगा, मैं तो गृहस्थ जंजाल में फंसा हूँ इस प्रकार क्षुद्र चिन्तन, अनात्म चिन्तन, विजातिय चिन्तन का त्याग कर, जो साधक आत्म तत्त्व के ही श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन में लगा रहेगा, उसका निश्चित अविलम्ब ही भव-बन्धन से उद्धार होगा इसमें किंचित् भी सन्देह नहीं है ।

जैसे घर में झाडू करने के बाद उस कचरे, कुड़े, करकट को इकट्ठा करके उसका कोई मूल्याङ्कन नहीं करता है न उसे संभालकर ही रखता है; क्योंकि ऐसा करना अज्ञानता के साथ समय तथा शक्ति का अपव्यय ही होगा । ठीक उसी प्रकार अपने को आत्म स्वरूप जान लेने के पश्चात् आत्म भाव को आवृत करने वाले सभी अनात्म तत्त्वों, विजातिय वृत्तियों, पंच कोशों,

तीन शरीरों, तीन अवस्थाओं को एक साथ मिथ्या जान उनमें से अहं बुद्धि को त्याग कर देना चाहिये । फिर उनके तत्त्वों की गणना करना एवं उन मिथ्या तत्त्वों हेतु ५, २५, ४२, १०८ आदि तत्त्वों का मताग्रह कर अपने निर्णय को सही तथा अन्य के निर्णय को गलत बताकर लड़ना या कुतर्क करना मूर्खता मात्र ही है ।

मनोनिग्रह के लिये अपने आत्म स्वरूप का अन्वेषण करना चाहिये । इस आत्म अन्वेषण के बिना वेद, शास्त्र, पुराण आदि ग्रन्थों के शब्द जाल में पड़ कर कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकेगा । जैसे ''मैं हूँ या नहीं'' इस बोध हेतु आत्मा (स्वयं) ही प्रमाण है, अपने आप की सिद्धि के लिये अन्य किसी से पूछने, दर्पण में देखने या प्रकाश कर पहचानने की आवश्यकता नहीं है । ''अहमात्मा'' तो पंच कोशों एवं समस्त ग्रन्थों का प्रकाशक है, उसे पंचकोश एवं शास्त्र में ढूंढ़ना अज्ञान है । अपने आत्म स्वरूप का निश्चय कर मन को सोऽहम् धारणा में रखने का अभ्यास करना ही आत्म विचार कहलाता है । अपने को द्रष्टा, साक्षी, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सच्चिदानन्द आत्मा जानना ही वास्तविक ध्यान है । अन्य ध्यान भक्तों के मन का प्रलाप एवं कल्पना मात्र है । आत्म चिन्तन के अतिरिक्त अनात्म भाव न उठने देना ही निदिध्यासन कर ब्रह्म को समर्पित करना है ।

यहाँ एकमात्र आत्मा ही है किन्तु जगत्, जीव, ईश्वर, माया, सम्बन्ध तथा परस्पर भेद की कल्पना सीप में प्रतीत होने वाली कल्पित चांदि (रूपा, रजत) वत् ब्रह्मात्मा में यह सब कल्पित भासित होते हैं । आत्मा ही जगत्, जीव, ईश्वर, पंचभूत, मन, इन्द्रिय, प्राण तथा देहादि संघात् रूप में प्रतीत हो रहा है ।

जब सूक्ष्म मन स्थूल विषयों की ओर इन्द्रिय द्वारों से निकलकर बहिर्मुख होता है तभी दृश्य जगत् का भान होता है । गहरी निद्रा में मन अज्ञान

सहित आत्मा में लय को प्राप्त होने से कुछ भी भेद की प्रतीति नहीं होती है । विचारों का मूल अहंकार, ''मैं पना'' उस काल में विनष्टसा हो जाता है तब केवल आत्मा ही स्वयं प्रकाश रूप से मन एवं उसकी वृत्तियों के अभाव का साक्षी बना रहता है । जिस अवस्था में अहंकार रूप मैं का किंचित् भी अस्तित्व नहीं रह जाता है, वही स्व-स्वरूप, आत्म साक्षात्कार, ब्रह्म समाधि, निर्विकल्प समाधि एवं मौन कहलाता है । आत्म धारणा में मन को लगाये रखना ही ज्ञान समाधि एवं ज्ञान दृष्टि है । इसके विपरीत दूसरों के मन के विचार जानना, त्रिकाल की जानकारी रखना, दूर देश की घटना को जाननादि कर्मों से वह तत्त्वज्ञानी नहीं कहला सकता ।

आत्म विचार चलते-चलते जब अनात्म विचार पूर्व संस्कारों के कारण आने लगे तो मन को पुनः दुराग्रह कर आत्म विचार में जोड़ने का व्यर्थ परिश्रम साधन नहीं करना चाहिये । बल्कि यह विचार करना चाहिये कि ये विचार किसे उठे ? तब मालूम होगा कि ''मुझे उठा'' तब फिर विचारना चाहिये कि ''मुझे विचार उठा'' तो यह किसने जाना कि ''मुझे विचार उठा'' ? तब मालुम होगा कि ''मैंने जाना'' तो फिर निश्चय करो कि ''मैं कौन हूँ ?'' विचारों का कर्त्ता हूँ या विचार का अनुभव कर्त्ता, प्रकाशक, साक्षी, द्रष्टा आत्मा हूँ ? बस इस प्रकार से विचार करने से हमारा मन अनात्म चिन्तन से स्वतः हट आत्म ध्यान निमग्न हो जावेगा और उन अनात्म विचारों पर ध्यान देने वाला जब मन ही वहां नहीं रहेगा तो वे विचारलीन हो जाएँगे ।

मन जो समस्त विषय ज्ञान, क्रिया तथा इहलोक सहित परलोक के ज्ञान का हेतु है, यदि किसी साधन से लय होना उसका सम्भव हो जाता है तो फिर जगत् नाम की कोई वस्तु ही दृष्टिगोचर नहीं हो पाती । जैसे मंद अन्धकार में भासित होने वाला कल्पित सर्प भ्रम, प्रकाश द्वारा रस्सी अधिष्ठान के ज्ञान से ही निवृत्त होता है । उसी प्रकार अज्ञानकृत कल्पित भासित होने

वाला मन भ्रम सतगुरु द्वारा आत्म अधिष्ठान के ज्ञान से ही दूर होता है । उसके बिना सब उपाय व्यर्थ है । क्योंकि अधिष्ठान के अज्ञान से जो भ्रम, भय, दुःखादि प्रतीत होते हैं वह अधिष्ठान ज्ञान से ही दूर होते हैं, अन्य उपाय से नहीं ।

मन आत्म समुद्र में प्रतीत होने वाली एक लहर मात्र है । जल शान्त होने पर लहर नाम की कोई सत्ता प्रतीत नहीं होती । उसी प्रकार जाग्रत एवं स्वप्न में ही मन की प्रतीति होती है । किन्तु सुषुप्ति अवस्था में समस्त विचारों का मन सहित अज्ञान में लय हो जाने पर मन या जगत् नाम की कोई वस्तु प्रतीत नहीं होती है । अतः मन का विचारों के अलावा कोई पृथक् अस्तित्व ही नहीं है एवं विचारों के अतिरिक्त जगत् जैसी वस्तु भी कोई नहीं है । जाग्रत एवं स्वप्न में मन है इसलिये विचार एवं जगत् भी है । जैसे मकड़ी जाला बनाने के लिये उपादान तथा निमित्त दोनों कारण है । अर्थात् मकड़ी जाला बनाने के लिये अपने मुख से तार निकालती है एवं स्वयं जाला बना कर पुनः अपने में ही खींच लेती है या जिस प्रकार ईश्वर भी अपने से सृष्टि कर, अपने में पुनः लय कर लेता है, उसी प्रकार जाग्रत तथा स्वप्न में इसी मन द्वारा जगत् बाहर प्रकट होता है एवं सुषुप्ति अवस्था में वह जगत् पुनः अपने में ही लीन कर लेता है ।

मन जब आत्म चिन्तन छोड़ विषय चिन्तन अर्थात् देहादि संघात् का चिन्तन करता है तब आत्मानुभव न हो जगत् अनुभव होने लगता है एवं जब आत्मानुभूति होती है तब जगत् का अभाव हो जाता है जैसे समाधि व सुषुप्ति में जगत् का अभाव अनुभव सिद्ध ही है ।

मन का मूल खोजने से मालूम होगा कि मन नहीं स्वयं आत्मा ही है । लहर नहीं स्वयं जल ही है । अलंकार नहीं स्वयं स्वर्ण ही है । स्वयं जल ही लहर रूप है, स्वयं स्वर्ण ही अलंकार रूप है, इसी प्रकार स्वयं आत्मा ही

मन रूप है ।

जब चैतन्यात्म वृत्ति देहाकार हो चंचल होती है तब उसे मन संज्ञा प्राप्त होती है एवं जब चैतन्य वृत्ति आत्माकार होती है तब वही मनोलय या मनोनाश कहलाता है । जैसे अन्य घरों के काम करने वाली स्त्री को नौकरानी की संज्ञा प्राप्त होती है किन्तु वही रोटी, कपड़ा, वर्तनादि अपने घर का काम करने वाली महिला को नौकरानी नहीं माना जाता है, बल्कि वह दरिद्र होने पर भी अपने घर की अपने को मालकिन ही अनुभव करती है ।

मन तो दर्पणवत् निर्दोष है । उसके सामने जो इन्द्रिय द्वार खुलता है वह वहाँ से उसका विषय का दर्शन कर दूसरे इन्द्रिय द्वार पर पहुँच वहाँ का दर्शन कर आगे तीसरे द्वार पर पहुँच जाता है । यदि मन किसी भी इन्द्रिय विषय में आसक्त होता तब परमार्थ तो दूर रहा जगत् व्यवहार भी उससे नहीं हो पाता । मानलो कि मन पत्नी रूप में आसक्त हो गया तो अब पत्नी के लिये, परिवार के लिये धनोपार्जन करने हेतु घर से बाहर वह कैसे जा सकेगा एवं गया तो भी वहां ग्राहक, कार्य, वस्तु ग्रहण त्यागादि व्यवहार को बिना मन के कैसे सम्पादन कर सकेगा ? अतः मन निर्दोष ब्रह्म ही है जैसे सूर्य सबको प्रकाश कर भी सब कर्मों के फलों से असंग रहता है । उसी प्रकार मन इन्द्रियों के शुभाशुभ कर्मों का एक मात्र प्रकाशक है । कृष्ण गीता में कहते हैं :-

''**इन्द्रियाणां मनश्चास्मि**''

''**भूतानामस्मि चेतना**'' – गीता : १०/२२

अर्थात् इन्द्रियों में श्रेष्ठ मन एवं भूतों में सत्वगुण से पैदा होने वाली ज्ञानशक्ति भी मैं ही हूँ ।

मन में उठने वाले विचारों में ''मैं का विचार'' ही सर्व प्रथम उठता है

कि – मैं यह नाम, रूप, जाति वाला पुरुष हूँ इस मैं रूप उत्तम पुरुष की उत्पत्ति के बाद ही मध्य पुरुष तू, तुम, आप की वृत्ति उदय होती है एवं इस उत्तम तथा मध्यम पुरुष के उदय होने पर ही वह, वे, ये, वो रूप अन्य पुरुष की उत्पत्ति होती है । किन्तु सुषुप्ति में जब मैं का भान नहीं होता है तब न मध्यम न अन्य पुरुष ही रहेगा । जब मैं नहीं तो तू नहीं । वह नहीं तो जगत् भी नहीं, क्योंकि मैं, तू तथा वह, यह, त्रिपुटी ही जगत् है ।

'मन त्रिगुणात्मिका है ।' कभी एक रस नहीं रह सकता । पांच अपंचिकृत भूतों का मिश्रित सतोगुणी अंश मन है । इसी के आश्रित ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ अपने–अपने विषय को ग्रहण करने में समर्थ होती है । इसी हेतु से मन सदा चंचल रहता है । एक होने पर भी अनेक काम को अकेला कराता रहता है । यदि यह अपनी शीघ्र कार्य करने की कुशलता (चंचलता) न करे तो इन्द्रियों का कोई व्यवहार भी सिद्ध नहीं हो सकता है ।

पाँच भूतों के सत्त्वगुण का कार्य मन है एवं तमोगुण का कार्य विषय है । इस प्रकार मन पाँच विषयों को छोड़कर कभी भी कहीं नहीं जाता है । पाँच विषयों एवं मन एक ही महाभूतों का कार्य होने से एक रूप ही है । मानो मन, पंच विषयों की आत्मा है और पाँच विषय मन की आत्मा है । मन चंचलता के समय भी अपने कारण पंच भूतों का त्याग कर कहीं नहीं जाता इसलिए मन चंचलता के समय भी अपने आप में स्थित है ।

जल में लहर की तरह आत्मा में मन कल्पित है । कल्पित वस्तु अपने अधिष्ठान से पृथक् सत्तावाली नहीं होती बल्कि अधिष्ठान स्वरूप ही होती है । अतः मन आत्म स्वरूप ही है । आत्मा से भिन्न मन नाम की कोई वस्तु नहीं है । भला लहर भी जल को क्या कभी विक्षिप्त कर सकेगी ? लहर समुद्र जल से उठकर समुद्र में ही लय हो जाती है । यदि समुद्र अपने को भूलकर लहर माने एवं लहर के कार्य को अपने कार्य मान लेवें तो समुद्र की ही

महिमा गिरती है । वैसे ही तुम आत्मा समुद्रवत् महान होकर भी अपने स्वरूप को भूल मन की विक्षिप्तता, चंचलता को अपना स्थिति मानते हो तो इससे अपनी महिमा गिरती है । किन्तु मन, तुम्हें कभी विक्षिप्त नहीं कर सकता है । अपनी महिमा को भूल अपने को मन मान, सुखी-दुःखी, गुणी-अवगुणी, पापी-पुण्यात्मा, चंचल-शान्त, बन्ध-मोक्ष धर्मी मानने लग गये हो किन्तु तुम मन के साक्षी हो, मन के अधिष्ठान होकर मन को अपने स्वरूप में कल्पित देखो और अपने सत्य स्वरूप में ही स्थित रहो ।

मन पत्थर की तरह जड़ कभी नहीं हो सकता है । आदि प्रकृति से मन का धर्म (स्पन्दन) संकल्प-विकल्प निश्चित हुआ है । अतः मन धर्मी रहते उसके धर्म का अभाव नहीं किया जा सकता है । जैसे अग्नि धर्मी के रहते हुए वह अपने उष्णता धर्म का परित्याग कभी नहीं कर सकती है अथवा सूर्य से प्रकाश का नाश होना सभव नहीं है । इसी प्रकार मन के रहते हुए मन की चंचल प्रकृति का नाश कदापि सम्भव नहीं है ।

सुषुप्ति, मुर्च्छा तथा समाधि अवस्था को छोड़ सर्वदा मन का स्वभाव चंचल है और चंचलता प्राणों के संयोग से होती रही है । जब तक देह में प्राण आते-जाते रहेंगे, तब तक मन में चंचलाता भी रहेगी । इसलिए मन का चंचल स्वभाव किसी भी साधन से जीवित में निवृत्त नहीं हो सकता और न इसकी चंचलता को समाप्त करने की आवश्यकता ही है । जब ज्ञान द्वारा यह निश्चय हो गया कि ‘‘सब ब्रह्म है’’, तब मन की चंचलता भी ब्रह्म ही है । जैसे यज्ञ, वेदी, अग्नि, होता, फल ब्रह्म है तो मन की चंचलता ब्रह्म क्यों नहीं होगी ? अवश्य ब्रह्म ही एक मात्र सर्वरूप है । जहाँ मन जाता है एवं जो मन है वह सब केवल एक ब्रह्म ही है ।

मन का स्वरूप संकल्प-विकल्प है । इसे चंचलता भी कहते हैं । जब तक प्राण शरीर में आ-जा रहे हैं तब तक मन का यह चंचल स्वभाव भी

निश्चित होता ही रहेगा । मन के चंचल धर्म को अपना धर्म (स्वभाव) नहीं जानना ही ज्ञान है । मन रूपी हथौड़े की चोट कुटस्थ आत्मा के स्वरूप में विकार नहीं ला सकती है । इस प्रकार विचार करने से मन के प्रति शत्रुता का भाव नहीं रहेगा ।

मन की चंचलता आपको दुःख देती नहीं । यदि आप मानते हैं तो इसे सदा 'सोऽहम्' ध्यान में लगावें । जब व्यवहार करना हो तो व्यवहार करावें एवं व्यवहार न हो तब पुनः ''सोऽहम्'' धारणा में लगावें । जब मन ''सोऽहम्'' ध्यान में न लगे तब इस प्रकार बुद्धि से निश्चय करे कि हे मन ! तेरा मेरा कोई संग नहीं, तू जड़ है, मैं चैतन्य हूँ; तू चंचल है, मैं स्थिर शान्त हूँ, तू विकारी है, मैं अविकारी हूँ, तू परिच्छिन्न है, मैं विभू व्यापक अपरिच्छिन्न हूँ । हे मन तू कर्त्ता-भोक्ता, ज्ञानी-अज्ञानी, चंचल-शान्त, पापी-पूण्यात्मा, सुखी-दुःखी, हर्ष-शोकवान ८४ में भ्रमण करने वाला, बद्ध-मुक्त द्वन्द्वात्मक धर्मी है एवं मैं इन सब द्वन्द्वों से न्यारा निर्विकल्प नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त सच्चिदानन्द स्वरूप साक्षी आत्मा हूँ । तू लहर और मैं जल हूँ, तू जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति तक होने से अनित्य और मैं तीनों अवस्था में होने से नित्य हूँ । तू विषयों को पाकर सुखी होता है और मैं बिना विषय के आनन्द स्वरूप हूँ । जब तू ही मिथ्या है तब तेरी ईश, जीव एवं जगत् की कल्पना, कर्म, फल तथा गती सब कल्पित है । तेरा मेरा कोई सम्बन्ध नहीं जैसे अन्धकार से प्रकाश का किसी प्रकार कोई सम्बन्ध ही नहीं है ऐसा विचार कर परमानन्द स्वरूप में स्थित रहना ही मन को शांत करने का साधन है ।

हाँ आत्मानन्द का जिज्ञासु दृढ़ पुरुषार्थ कर मन के निरोध का उपाय करे । और निरोध के साधन एकान्त सेवन, आत्मध्यान, भूत-भविष्यत् विस्मृति, दुर्जन-संग-त्याग, मौन रहे । शम, दम, तितिक्षा, श्रद्धा,

उपरामतादि साधन सम्पन्न हो परमात्मा तत्त्व का श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा अवश्य मुक्ति लाभ कर आत्मा में मन, बुद्धि को विश्राम दे । मुमुक्षु को आत्म चिन्तन प्रथम भले अरुचिकर एवं कष्ट प्रद मालुम पड़े तब भी आत्म चिन्तन करना ठीक है । किन्तु मुक्ति के निमित्त किसी सद्गुरु की शरण लेना परमावश्यक है ।

● ॐ ●

स्वधर्म निधनं श्रेयः

चंचल और अचंचल अर्थात् संकल्प उठना न उठना मन के धर्म है और मैं आत्मा मन से न्यारा मन के चंचल स्वभाव का द्रष्टा हूँ । इसलिए मन की चंचलता और अचंचलता से असंग होकर अपने साक्षी स्वरूप में जीवन व्यतीत करें । यह मन जल पर भासने वाली कल्पित तरंगवत् है । कल्पित वस्तु अपने अधिष्ठान को किंचित् भी विकारी नहीं बना सकती है । मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, अगाध आत्म स्वरूप की लहर मात्र जाने । लहर जल की लीला है । तरंगों का उठना-बैठना, चंचल हो भागना जल में किसी प्रकार का विघ्न उत्पन्न नहीं कर सकती है । इसी प्रकार मन का संकल्प-विकल्प अनुभव स्वरूप आत्मा की लीला अथवा विलास है । जिस प्रकार जल ही लहर है उसी प्रकार अनुभव ही मन है । मन की वृत्ति को रोकने की चेष्टा पारदर्शी महात्मा नहीं करते वे तो मन के अधिष्ठान की ओर ही इसे लगाते हैं, कल्पना की और नहीं लगाते । वृत्ति का अधिष्ठान ब्रह्म सत्य है । जब तक शरीर में प्राणों की चेष्टा रहती है तब तक चित्त भी अपने स्वभाव, अवस्था धर्म में प्रवृत्त रहता है । परन्तु ज्ञानवान् अपने को साक्षी आत्मा जानकर चित्त और उसके धर्म आत्मा एवं अनात्माकार चिन्तन से अपने को न्यारा ही देखता है । इस प्रकार का निश्चय ही निर्विकल्प समाधि

है ।

● ॐ ●

जड़ता समाधि नहीं

जबतक देह में प्राण का आना-जाना बना रहता है तब तक अन्तःकरण में चंचलता रहती है । सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, सुख-दुःख का भान न होना यह कोई ज्ञानी के लक्षण नहीं है, यह तो जड़ता है । पत्थर, धातु, लकड़ी आदि जड़ वस्तु को भी भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी तथा सुख-दुःखादि द्वन्द्वों का अनुभव नहीं होता है किन्तु यह अवस्था निकृष्ट ही मानी जाती है । तब भी उन्हें समाधि रूप नहीं कहा जा सकता है । चेतन प्राणी को इस प्रकार समाधि प्राप्त भी नहीं हो सकती और न इस प्रकार समाधि से जीव का कल्याण ही है । समूह में अनेक की कल्पना से रहित होकर निर्विकल्प रहना ही एकान्त देश में स्थिति एवं सहज समाधि है । मैं, तू, यह, वह के भेद से रहित जो केवल बोध मात्र, अनुभव मात्र, सामान्य ज्ञान स्वरूप अवस्था है उसका नाम सहज समाधि एवं एकान्त आत्म देश है । सब पशु-पक्षी तथा मानव उसी सहज समाधि में स्थित हैं किन्तु उस अवस्था का पशु, पक्षियों को तो न बोध है न बोध कराया जा सकता है । परन्तु मनुष्य को सद्गुरु द्वारा बोध कराया जा सकता है । सद्गुरु के द्वारा ज्ञान प्राप्त होने से पूर्व मनुष्य की उव सहज समाधि अबस्थाा से अपने को दूर एवं अप्राप्त हुआ सा मान उसे पाने हेतु नाना कष्टप्रद साधन करते हुए दुःखी होता रहता है ।

ध्यान, सामधि, नाद, मन की चंचलता तथा स्थिरता जिसके सहारे उत्पन्न होते हैं, रहते हैं तथा पुनः जिसमें लय हो जाते हैं और जो इन तीनों अवस्थाओं का प्रकाशक है वही आत्मा है , वही स्वरूप है, वही तुम्हारा,

हमारा स्वरूप है । अपने द्रष्टा, साक्षी, असंग निर्विकार, निर्विकल्प स्वरूप को भूल क्यों अपनी कल्पनाओं के पीछे पड़े रहते हो ? मन परप्रकाश्य है एवं मैं स्वयं प्रकाशक, अनुभव स्वरूप हूँ । इस अनुभव स्वरूप आत्मा का अनुभव कराने वाला अन्य कोई चैतन्य आत्मा नहीं है । आत्मा अद्वैत है । तुम स्वयं ही वह आत्मा हो । आत्मा का अनुभव किसलिए चाहते हो ? आत्मा का अनुभव सम्भव नहीं । स्वरूप के अतिरिक्त सब कल्पित है । कल्पित वस्तु मनादि अपने अधिष्ठान का बोध नहीं करा सकते । तुम्हारा स्वरूप सर्व प्रकाशक, सर्वाधिष्ठान, स्वतःसिद्ध नित्य अनुभव स्वरूप और अद्वैत है । उसके लिए साधन वांछित नहीं है । भेदवादी महात्मा का संग, नाना शास्त्र अध्ययन, बुद्धि में उत्पन्न नाना संशय एवं विपर्यय दोष के कारण प्राप्त नित्यमुक्त आत्म वस्तु में अप्राप्ति एवं बन्धन का भ्रम हो रहा है ।

ग्रहण और त्याग केवल वृत्ति के कार्य है । वृत्ति के अधिष्ठान में इन द्वन्द्वों की सम्भावना नहीं है । इसलिए मन के द्वारा मन के कार्यों को आत्मा में ही देखना बुद्धिमानों की ज्ञान निष्ठा है । जैसे तरंग का उत्थान-लय जल में कोई गुण-दोष, हानि-लाभ उत्पन्न नहीं करता, केवल एक सामान्य जल सत्ता ही अपने आप में स्थित है । इसी प्रकार मन के वृत्तियों का ग्रहण-त्याग उदय-अस्त साक्षी आत्मा में कुछ न्यूनाधिक भाव की उत्पत्ति नहीं करता है । आत्मा ज्यों की त्यों एक रस ही है । इसलिए अधिष्ठान आत्म दृष्टि ही यथार्थ है एवं वृत्ति की दृष्टि अयथार्थ है । वृत्ति को मन द्वारा अधिष्ठान आत्मा में लय कर अपने को सर्वाधिष्ठान, सर्वप्रकाशक साक्षी आत्मा जानना ही यथार्थ ज्ञान है एवं ऐसे ज्ञानी ही जीवन मुक्ति का विलक्षण आनन्द लाभ करते हैं ।

● ॐ ●

मन को न रोकें

लोग मन को रोकने के लिये बहुत मेहनत करते हैं, पर मन रुकता नहीं । मन को रोकने की आवश्यकता भी नहीं है । इस मन को न तो रोकना है और न कहीं लगाना है । ज्यों का त्यों छोड़ दो मन से उदासीन होकर, साक्षी होकर रहो तो मन की चंचलता, संकल्प विकल्प स्वतः ही मिट जावेगें । मन से परमात्मा का भेद रूप में चिन्तन करोगे तो आप अपने द्रष्टा, साक्षी आत्म पद से गिर जाओगे । क्योंकि उस अखण्ड ब्रह्म को अपने से पृथक् मानने से ही तो उसका ध्यान, चिन्तन हो सकेगा, जबकि वह किंचित् भी पराया नहीं है । चिन्तन करने वाला एवं जिसका चिन्तन किया जाय इन दोनों में दूरी चाहिये, भेद चाहिये तभी चिन्तन, ध्यान सम्भव हो सकेगा । अतः साक्षी भाव में चुप रहना ही उचित है । चुप रहने से स्वतःसिद्ध स्थिति का अनुभव हो जावेगा ।

मन की दशा देखकर चिन्तित न होवें । वह ज्यों बहे त्यों बहता रहे । बस उससे अलग रहें, तटस्थ रहें । वैसे आप उससे अलग ही हैं किन्तु उसकी चिन्ता करके उसके साथ सम्बन्ध जोड़ लेते हैं । फिर मन के चंचल हो जाने से आप साक्षी का क्या बिगड़ गया ? आप तो ज्यों के त्यों एकरस द्रष्टा, साक्षी ही हैं । मन चंचल होता है यह भी एक तमाशा है इसे देखते रहो । ऋषि, मुनि, साधक, ध्यानी वर्षों मन को परमात्मा में लगाने की मेहनत करते हैं, पर मन लगता नहीं है । मन लगने वाला भी नहीं है । आप स्वयं उस सत्ताहीन को 'है' 'है' कहकर बल देते हैं एवं चंचल बनाते हैं । फिर वह आपसे सत्ता पाकर ही चंचल हो इधर-उधर पतंग की तरह नाचता है ।

मन की उपेक्षा कर दो वह अपने आप वश में हो जावेगा । मन को वश में करने हेतु घोड़े को वश में करने की तरह अभ्यास, साधन नहीं करना है बल्कि मन के वशीभूत न होना ही मन को वश में करना है । अर्थात् मन के धर्मों को साक्षी, द्रष्टा स्वरूप मैं आत्मा के धर्म नहीं मानना ही मन को वश

करने का सबसे सरल सर्वोत्तम साधन है । मन के साथ मिलकर उसे वश में करने हेतु प्राणायाम, जप, त्राटकादि साधन करना उत्तम साधन नहीं । जिसको हटाना है, मिटाना है उसे 'है' रूप सत्ता देना अज्ञान ही है ।

आत्मा है, वह है ही उसे केवल मैं रूप में जानना है, उसे पाने हेतु कुछ करना नहीं क्योंकि अपने से पृथक् वस्तु के लिये कुछ करना पड़ता है । इसलिये आत्मा की प्राप्ति नित्य प्राप्त की प्राप्ति है एवं मिथ्या कल्पित मन की निवृत्ति नित्य निवृत्त की ही निवृत्ति कही जाती है । इसे न कठिन न सरल ही कहेंगे, क्योंकि सरल का तात्पर्य भी कम कठिन ही होता है । आत्मा वह वस्तु है जो तुम स्वयं ही हो । मैं न पास है न दूर । मैं को पाना न कठिन कहा जावेगा न सरल ।

इहैव तैर्जित : सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः

– गीता ५/१९

जिसका मन समभाव में स्थित हो गया है अर्थात् हानि-लाभ, मान-अपमान, संयोग-वियोग, सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, अपना-पराया, ऊँच-नीच, सुख-दुःख, कर्ता-भोक्ता, पुण्य-पाप, ज्ञान-अज्ञान, चंचल-शान्त, बन्ध-मोक्षादि रूप द्वन्द्व में साक्षीवत् स्थित है उस पुरुष द्वारा यहां जीवित अवस्था में ही संसार-सागर को पार कर लिया गया है । अब जिसके लिये भव सागर ही सुख चुका है, उसे पार करने के लिये किंचित् भी परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं है ।

'मैं परमात्मा ही हूँ' केवल इतनी सी बात सरलता से सद्गुरु एवं सत्शास्त्र पर श्रद्धा कर मानलो तो मुक्ति पाने हेतु और कुछ करना-कराना नहीं है । करने से जो कुछ मिलेगा वह संसार के क्षेत्र की बात है, क्योंकि वह परिच्छिन्न अपूर्ण, एकदेशीय ही होगा । जबकि यहाँ परमात्मा तो आकाशवत् सर्वत्र परिपूर्ण है । करने से जो-जो मिलेगा वह धन, पुत्र, पति, पत्नी, स्वर्ग-

बैकुण्ठ, ध्यान, समाधि आदि सभी का एक समय नाश–अभाव हो जावेगा, क्योंकि यह एक भी सत्य नहीं है ।

नाभावो विद्यते सतः
'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या'

– गीता २/१६

सत्य वह जिसका कभी अभाव नहीं होता है । भजन, पूजन, जप, प्रार्थना, कीर्तन, सत्संग, ध्यान, समाधि करो मैं मना नहीं करता, किन्तु इनके करने से बोझा व अहंकार ही बढ़ेगा । सत्य तो इनसे मिलने वाला ही नहीं, क्योंकि सत्य तो इन सब साधनों से पहले ही स्वतः सिद्ध, सर्वप्रकाशक है । सत्य के द्वारा ही सब की सिद्धि है । सत्य किसी से सिद्ध होने वाली वस्तु नहीं है । आत्मा के 'सत' स्वभाव से जगत् में अस्ति पना, आत्मा के 'चित' स्वभाव से जगत् में 'भाति' पना एवं आत्मा के 'आनन्द' स्वभाव से ही जगत् में 'प्रियता' भास रही है ।

वर्तमान जो है 'नहीं' उसकी प्राप्ति करने पर भी वह सदा रहेगा नहीं । जैसे साधनों से उत्पन्न फसल, देह एवं प्राप्त स्वर्ग कालान्तर में नष्ट हो जाते हैं । जो ''है'' वह निरन्तर है, उसकी प्राप्ति करना नहीं है । हम वही हैं । देखो ! यह सबके अनुभव की बात है कि जो मैं बचपन में था वही आज मैं वृद्ध अवस्था में भी हूँ किन्तु इस बीच अवस्थाएँ बदली, समय बदला, संयोग बदला, साथी बदले, नगर, मकान बदले, वाहन, कपड़े बदले, भाव विचार बदले, स्वाद बदले इच्छा वासना बदली किन्तु आप स्वयं बदले हैं क्या ? नहीं । ''आप'' तो ज्यों के त्यों सर्व परिवर्तन के साक्षी हैं । बदलने वाले संसार का नाश है, हम, आप तो अपरिवर्तनशील कूटस्थ आत्मा, परमात्मा के ही स्वरूप है ।

● ॐ ●

सब मिट्टी में मिल जावेंगे

शरीर एवं संसार पंच भूतों के हैं उनकी एकता है । जबकि हमारी परमात्मा के साथ एकता है । किन्तु अज्ञान के कारण हमने शरीर के साथ अपनी एकता नहीं होने पर भी अपने को देह मान लिया है और अपने को हिन्दु, सिक्ख, मुस्लिम्, ईसाई, जैन, बौध, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, उड़िया, बंगाली, तेलगु, मद्रासी, बिहारी, मारवाड़ी, सिन्धी, पंजाबी, गुजराती, तामिल आदि जाति वाला मान भाषा, प्रान्त, मजहब, सम्प्रदाय का भेद खड़ाकर परस्पर राग-द्वेष कर रहे हैं एवं लड़ कट कर सब मिट्टी में मिल रहे हैं । कोई भी देहाभिमानी परमात्मा को कभी भी प्राप्त नहीं कर पाया है न भविष्य में प्राप्त कर सकेगा । ब्रह्मचारी, संन्यासी आदि कोई भी आश्रम अभिमानी परमात्मा के एकत्व प्राप्त नहीं कर सकेंगे । परमात्मा के साथ आपकी नित्य एकता होने पर भी अज्ञानता से भेद मान लिया है । केवल इस भूत भ्रम को ही सद्गुरु कृपा से ज्ञान द्वारा दूर कर सर्वत्र एक ब्रह्म दृष्टि करना है ।

शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि यह सब दृश्य बदलने वाले हैं । इन पर यदि कोई असर पड़गया और ये बदल गई तो इनके द्रष्टा आप में कोई रूपान्तर होने वाला नहीं है । मन के सुख-दुःख से आप अपने को सुखी-दुःखी मानते हैं यह भूल है । अपने आप में ही आप स्थित रहें । अपने आप में स्थित रहना ही 'स्वस्थ' रहना है । सुखी-दुःखी होना यह तो पदस्थ होना है, याने प्रकृति में स्थित होना है । प्रकृति में स्थित होने से सुख-दुःख के भोगने में स्थित होना पड़ता है । ''स्व'' सदा निर्विकार है । विकार मन में है उसके साथ अहं बुद्धि करने से ही सभी जीव सुखी-दुःखी होते हैं ।

यदि आपके मन में गन्दे या अच्छे विचार आते हैं, शोक, चिन्ता, काम, क्रोधादि वृत्तियां होती है तो इनके होने पर भी आप अपने साक्षी भाव में स्थित रहो, उनसे मत मिलो । प्रकृति के साथ मिलने से शुभाशुभ कर्म द्वारा पाप-पुण्य भी लगेगा तथा जन्म-मरण, दुःख भी होगा ।

''कारणं गुणस ोऽस्य सदसद्योनि जन्म सु''

– गीता १३/२१

गुणों का संग छोड़ो, फिर जन्म-मरण है ही नहीं । गुणों का संग पकड़ा है इसलिए जन्म-मरण है । मानने से सम्बन्ध एवं सम्बन्ध से दुःख है । यदि किसी प्रकार सम्बन्ध मानना छोड़ दें तो फिर सम्बन्ध मिटते ही समस्त दुःख द्वन्द्व भी मिट जायेंगे ।

● ॐ ●

साधना से परमात्मा दूर

हम भगवान का भजन, कीर्तन, पूजा, जप, माला एवं रामायण, भागवत, गीता आदि धर्मग्रन्थों का पाठ करते हैं तो इन साधनों द्वारा मन में यह एक विपरीत भावना मन में दृढ़ होती रहती है कि मेरे पास परमात्मा नहीं है, आगे कभी भविष्य में मिलेंगे । अभी हमारा मन शुद्ध नहीं है, अभी हमारा चित्त एकाग्र नहीं है, जब कर्म, उपासना द्वारा मल-विक्षेप दोष दूर हो जावेगा तब हम परमात्मा को पाने के अधिकारी बनेंगे । अभी हम अधिकारी नहीं है । यह तो प्राप्त परमात्मा को पाने में अप्राप्त की धारणा है । यह भक्तों, साधकों की धारणा प्राप्त परमात्म बोध में महान बाधक है । प्रायः भक्त मन में तो समझते हैं कि हम भगवान की ओर तेजी से चल रहे हैं, क्योंकि बहुत अधिक जप, ध्यानादि क्रियाएँ करते चले आरहे है परन्तु उनकी साधना प्राप्त

परमात्मा से दूरी की ही भावना दृढ़ करती रहती है । मैं योग्य नहीं, मैं पात्र नहीं, मैं पापी हूँ, मैं कामी हूँ आदि अपने को दीन हीन अकिंचन मानने की भावना साधक के महान पतन का ही हेतु है । जो परमात्मा श्वाँस-श्वाँस में है, क्या वे हमारे पापों को देख कहीं अटक जावेंगे ? क्या वे पापी, दुष्ट के हृदय में नहीं रहते हैं ? '**ईश्वरः सर्व भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति**' - गीता में तो कहा है कि मैं सब भूत प्राणियों का आदि, मध्य तथा अन्त भी मैं ही हूँ ।

- गीता १८/६१

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ।।

- गीता १०/२०

● ॐ ●

भक्ति से पूर्व भगवान

साधक भजन, ध्यान, जप करते हुए ऐसा विचारे कि परमात्मा जप से पूर्व, जप करते हुए, जिह्वा में, नाम में, श्वास में ,मन में, बुद्धि में, अन्तःकरण में एवं शरीर में सब ओर परिपूर्ण है । सर्वदा वे पूरे के पूरे ही हैं । मैं चाहे नाम, जप, पूजा, ध्यान करूँ या न करूँ । जब है तो फिर क्यों साधन, भजन, जप, कीर्तन, स्वाध्याय, सत्संग करते हैं ? क्योंकि नाम, जप, साधन, कीर्तन, सत्संग किये बिना हमारे मन को चैन, सन्तोष नहीं इसलिए करते हैं । चुप बैठने की आदत नहीं है ।

परमात्मा सब समय में है तो इस समय में भी है । यदि इस समय नहीं है तो वे नित्य कैसे कहे जा सकेंगे ? परमात्मा सब जगह है तो इस स्थान पर

भी है। यदि वे इस स्थान पर नहीं है तो उन्हें व्यापक कैसे कहा जा सकेगा ? जब वे सब में हैं तो हमारे में भी हैं । यदि वे हमारे में नहीं हैं तो फिर उन्हें 'सर्वान्तर्यामी', ''घट-घट जानन हार'', ''सर्वधी साक्षी भूतम्'' कौन कहेगा ? और एक महत्वपूर्ण अन्तिम बात यह है कि जब सर्वरूप परमात्मा के हैं तो मेरा रूप भी परमात्मा का है । यदि मेरे रूप से परमात्मा अलग होंगे तब उन्हें अखंड़ कौन कहेगा ? यहाँ परमात्मा के अलावा देह, प्राण, इन्द्रियाँ,मन, बुद्धि अन्य कुछ भी नहीं है । अतः आप यह नहीं कह सकते हैं कि मैं अधिकारी नहीं हूँ, मुझे परमात्मा नहीं मिल सकेंगे । हाँ इतना कहा जा सकेगा कि अन्तःकरण मलिन होने से उनका अनुभव नहीं हो पा रहा है । जैसे - जल या दर्पण के मलिन होने से उसमें स्पष्ट प्रतिबिम्ब नहीं पड़ पाता है । पात्र शुद्ध होने पर ही स्पष्ट प्रतिबिम्ब पड़ता है । इसी प्रकार मन के मलिन होने से नित्य विद्यमान परमात्मा का अनुभव नहीं होता जैसे दिन में बादलों के कारण सूर्य दर्शन नहीं हो पाता है ।

● ॐ ●

मन के साक्षी रहो

मन तीन गुणों का कार्य होने से कभी भी एक रस नहीं रह सकता । तत्त्वदर्शी महात्मा मन के सत्वगुण प्रधान होने से प्रकाश, रजोगुण प्रधान होने से प्रवृत्ति तथा तमोगुण प्रधान होने से मोह के होने पर भी वह न तो उन प्रिय वृत्तियों को सर्वदा बनाये रखने की चेष्टा करता है न अप्रिय वृत्तियों के प्रति द्वेष करता है और न वह उनके निवृत्ति की आकांक्षा करता है । वह इन तीनों गुणों के कार्य रूप मन एवं उसके धर्म से उदासीन व साक्षी बना रहता है ।

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानी काङ्क्षति ।।

– गीता १४/२२

विवेकी पुरुष तीनों गुणों के कार्य के मध्य उदासी, साक्षी, द्रष्टा, आत्म स्वरूप में स्थित रहता है । किसी भी गुण के कार्य देह, इन्द्रिय, प्राण, मनादि के प्रकट होने पर भी वह किंचित् उन क्रियाओं में अहंकार कर विचलित नहीं होता है; बल्कि गुण ही अपने-अपने कार्य रूप मन, इन्द्रिय एवं विषयों में स्थिति कर रहे हैं अर्थात् बर्त रहे हैं । मैं कुछ भी नहीं करता हूँ ऐसी भावना में ही सदा स्थित रहता है ।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकार विमूढ़ात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।।

– गीता ३/२७

अज्ञानी पुरुष गुणों के कार्यों को अपने साक्षी आत्म-स्वरूप में आरोपित कर मिथ्या अभिमान के कारण बन्धन को प्राप्त होता रहता है ।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुण कर्म विभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ।।

– गीता ३/२८

तत्त्व के जानने वाले अर्थात् गुरु कृपा से अपने को द्रष्टा, साक्षी, आत्मा जानने वाला ज्ञानी सत्त्व गुणों के कार्य अन्तःकरण व ज्ञानेन्द्रियाँ, रजोगुण के कार्य प्राण तथा कर्मेन्द्रियाँ एवं तमोगुण के कार्य विषय के विभाग को जानने वाला गुण के कार्य में मैं इन कर्मों का कर्ता एवं भोक्ता हूँ ऐसा मिथ्या अभिमान नहीं करता है, बल्कि गुण ही गुण में बर्तते हैं ऐसा निश्चय कर सब क्रियाओं का साक्षी रहता है ।

समदुःख सुखः स्वस्थः समलोष्टाश्म कांचनः ।
तुल्य प्रियाप्रियो धीरस्तुल्य निंदात्मसंस्तुतिः ।।

– गीता १४/२४

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपेक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्चते ।।

– गीता १४/२५

तत्त्वदर्शी ज्ञानी पुरुष अपने को अन्तःकरण के द्रष्टा अनुभव करते रहने के कारण मन के धर्म सुख–दुःख समान देखते हैं । उनको स्वर्ण के लिये महत्वबुद्धि एवं लोहे के लिये हेय बुद्धि नहीं होती है अर्थात् उसके लिये माटी, स्वर्ण के ग्रहण–त्याग में समभाव रहता है । जो प्रिय तथा अप्रिय वस्तु, व्यक्ति में समभावी रहता है तथा अपने प्रियजनों से आत्मस्तुति सुनकर अथवा द्वेष करने वालों के प्रति भी वह उदासीनवत् स्थित रहता है इसलिए उसे गुणातीत कहते हैं ।

ज्ञानी पुरुष मान–अपमान, मित्र–शत्रु में समभाव रखता है अर्थात् वह मान में हर्षित नहीं होता है एवं अपमान में शोकवान् नहीं होता है । मित्र से राग नहीं करता है एवं शत्रु भाव रखने वालों के प्रति भी ज्ञानी पुरुष घृणा, द्वेष तथा क्रोध कर उसके अनिष्ट को नहीं सोचता है । बल्कि सबके लिये समभाव रखता हुआ उसके हृदय के उद्‌गार इस प्रकार स्फुरित हो जाते हैं ।

ॐ सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःख भाग्भवेत् ।।

सब त्रिताप से मुक्त हों किसी को किंचित् भी कष्ट न हो । यही उसका मनोभाव सदा बना रहता है ।

ज्ञानी पुरुष देह, प्राण, इन्द्रिय तथा अन्तःकरण के प्रत्येक स्थूल, सूक्ष्म, कार्य में ''अहंकर्ता'' इस प्रकार के अभिमान को आश्रय नहीं देता है ।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ।।

– गीता १४/१९

जिस समय जीव सद्गुरु की कृपा से किसी भी कर्म में ''मैं कर्ता हूँ'' ऐसा मिथ्या अभिमान न कर उन-उन क्रियाओं में गुणों को छोड़ अन्य किसी को भी कर्ता नहीं देखता है । बल्कि गुण ही कर्म का कर्ता है ऐसा निश्चय से देखता है और अपने को समस्त गुण एवं कर्म से अतीत द्रष्टा, साक्षी आत्मा ही जानता है उस समय वह ब्रह्मात्म भाव अर्थात् सोऽहम् भाव को प्राप्त होता है ।

''विमुक्तश्च विमुच्यते''

'मुक्त ही मुक्त होता है' किसी के साथ बन्धा रहने वाला मुक्ति पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता है । मन के साथ बन्धने वाले भी मुक्ति का अनुभव नहीं कर सकेंगे । मन को मुक्त करने वाले ही अपने नित्य मुक्त स्वरूप का अनुभव कर पाते हैं ।

याद रखें ! वृत्ति की स्थिरता कभी संभव नहीं है । चाहे जितना प्रयत्न कीजिये, वृत्ति यदि स्थिर होगी तो चंचल भी होगी । शास्त्र एवं संसार में आज तक ऐसा साधन या उपाय नहीं देखा गया कि जिससे वृत्ति सर्वदा एक जैसी रहे । ऐसी अवस्था में मन के धर्म सुख-दुःख से बचने का एक मात्र उपाय यह है कि अपने को मन का साक्षी जान निर्द्वन्द्व रहना ।

मन आत्म समुद्र की तरंग मात्र है । तरंग जल से पृथक् नहीं होती है, उसी प्रकार मन की शुभाशुभ वृत्तियाँ आत्म समुद्र से भिन्न नहीं हैं । जैसे तरंगों के उठने, बैठने, दौड़ने, टकराने से समुद्र की क्षति नहीं होती है, उसी प्रकार मन की वृत्तियों के ऊँच-नीच, उदय-अस्त,चंचल-शान्त होने पर भी आत्मा की कोई क्षति नहीं होती है । अस्तु अन्तःकरण की किसी भी अवस्था

को अपने अवस्था नहीं जानना चाहिये । यदि सूक्ष्म शरीर को दृश्य एवं मिथ्या जान लिया तो फिर अन्तःकरण की किसी भी अवस्था को बनाने या मिटाने का आग्रह ही समाप्त हो जावेगा । तत्त्वज्ञानी मनोवृत्ति को रोकने के लिये श्रम नहीं करते हैं तथा ब्रह्माकार वृत्ति सर्वदा बनी रहे इस प्रकार अन्तःकरण के धर्म में आग्रह करना कर्तव्य नहीं समझते हैं ।

जब तक मन को विशेष प्रकार का बनाना चाहते हैं तब तक आप धर्मात्मा, भक्त, साधक, योगी, भले ही हो जावें, किन्तु तत्त्वज्ञ नहीं है । जहाँ तक मन की वृत्ति में आग्रह है वहाँ तक उसे साधक, जिज्ञासु, मुमुक्षु कहा जा सकता है । जो वृत्ति में विशेष प्रकार का आग्रह करता है उसका वेदान्त सम्बन्धी ज्ञान अधूरा है । तत्त्वज्ञ की दृष्टि में एक ब्रह्म को छोड़ अन्य के प्रति सत्य बुद्धि नहीं रहती है । तत्त्वज्ञ देह, प्राण, इन्द्रियों, अन्तःकरण को एक ब्रह्मरूप ही निश्चय करता है एवं सृष्टि के अच्छे-बुरे सब जीव मैं ही हूँ । अथवा यह कुछ नहीं केवल सामान्य ज्ञान सत्ता ही है । जैसे स्वप्न नगर कुछ नहीं है केवल स्वप्न द्रष्टा ही सत्य है । अथवा स्वप्न द्रष्टा ही स्वप्न नगर एवं पुरुष रूप है ।

सिनेमा में यदि प्रकाश अपने स्वरूप के सम्बन्ध में निश्चय करने निकले तो उसके लिये दो ही मार्ग हैं । सिनेमा के पर्दे पर दिखने वाले सब चित्र मेरे ही है या ये कुछ नहीं केवल मैं शुद्ध प्रकाश मात्र ही हूँ । प्रकाश हेतु इन दोनों विचारों से अन्य प्रकार का विचार भ्रान्ति पूर्ण ही होगा । इस प्रकार जगत् रूपी पर्दे पर प्रतीत होने वाले समस्त भ्रान्ति रूप चित्र मैं ही हूँ या यह दृश्यमान जगत् नहीं है, मैं ही केवल शुद्ध ज्ञानानन्द मात्र हूँ । इन दो प्रकार के निश्चय से भिन्न अपने लिये अन्य विचार करना भ्रान्ति मात्र ही होगा ।

जिस अज्ञानी को मन के चंचल होने से दुःख एवं शान्त होने से सुखानुभूति होती है वे उसे एकाग्र करने का साधन करे, किन्तु मैं असंग

चैतन्य रूप आकाश को मन रूप वायु के चंचल एवं स्थिर होने से हर्ष-शोक नहीं । वायु रूप मन को भले ही चंचलता से दुःख एवं स्थिरता से सुखानुभूति हो किन्तु मुझ आकाश रूप साक्षी आत्मा में चित्त ही नहीं तो फिर सुख-दुःख कहाँ से उदय हो सकेगें, जिसे मिटाने का साधन किया जावे ? मन के धर्म हर्ष, शोक, काम, क्रोध, लोभ, मोह प्रवृत्ति आदि को जो अपने में मान दुःखी होता हो एवं उसके नाश का साधन करता हो वह ज्ञानियों की दृष्टि में दीन एवं हंसी का पात्र है । ज्ञानी को देह, प्राण, इन्द्रिय, अन्तःकरण संघात् के कार्य में अहं बुद्धि नहीं होती है, इसलिये सदा जीवन मुक्ति का विलक्षण आनन्द अनुभव करता रहता है, किन्तु प्रकृति के कार्य में अन्तःकरण में अहं बुद्धि करने वाला भ्रमित पुरुष कभी भी निजानन्द स्वरूप का अनुभव नहीं कर पाता है, तथा देह इन्द्रिय प्राण तथा मन, बुद्धि की क्रियाओं में अभिमान करने से सदा दुःखी ही रहता है ।

जब गुरु उपदेश द्वारा अन्तःकरण को अपने से पृथक् अपंचीकृत भूतों के मिलित सत्वगुण का कार्य जान लिया तो तुम उसके ज्ञाता, द्रष्टा, साक्षी आत्मा उस दृश्य से पृथक् स्वतःसिद्ध हो गये । अब तुम्हारी जड़ चेतन की ग्रन्थि याने आत्मा-अनात्मा का परस्पर का अध्यास समाप्त हो गया । अब कोटि-कोटि अन्तःकरण की वृत्तियाँ उठती रहें आत्मनिष्ठावान् दृढ़ ज्ञानी के लिये उन वृत्तियों के उदय-अस्त, उँच-नीच विषयों में जाना किसी प्रकार के फल का भोक्ता नहीं बना सकता है ।

जो व्यक्ति अन्तःकरण से संकल्प-विकल्प, चंचल-शान्त, सुख-दुःख, मान-अपमान, सर्दी-गर्मी के होने से अपने को आत्मज्ञान से भ्रष्ट या आरुढ़ पतित मानते हैं उनका वेदान्त सम्बन्धी ज्ञान संस्कार ही निर्पेक्ष नहीं है । वेदान्त ज्ञान प्रारब्ध के व्यवहार एवं भोग में किसी प्रकार हस्तक्षेप नहीं करता है ।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ।। – गीता ३/३३

अर्थात् सभी प्राणी प्रारब्ध प्रकृति के अधीन होने से वे सब प्रकार के कार्य करने को बाध्य हैं, इसमें ज्ञानी–अज्ञानी किसी की भी स्वेच्छा, दुराग्रह, हठ क्या कर सकेगा ? याने प्रारब्ध भोगे बिना कभी नहीं छूटता है ।

प्रारब्ध कर्म कठिन जगमाहीं ।
बिना भोग यह छूटत नाहीं ।। – रामायण

देह धरे का दंड है, सब कोई को होय ।
ज्ञानी देखे भोग को, मुरख भोगे रोय ।।

बस इतना ही अन्तर है कि ज्ञानी द्रष्टा बनकर शान्त रह देखता रहता है एवं अज्ञानी अपने को भोक्ता जान अशान्त हो रोता चिल्लाता रहता है ।

जैसे घर के भितर प्रकाश अंधकार का निवर्तक है किन्तु अंधकार में जो टकराहट के कारण सामान स्थानान्तर हो गया है, गिर गया है या टुट–फुट गया है उसे व्यवस्थित एवं ठीक करने वाला नहीं है । उसी प्रकार ज्ञान तो भ्रान्ति का निवर्तक है, वह अन्तःकरण के धर्मों में भाव–अभाव रूप परिवर्तन करने वाला नहीं है । मुमुक्षु को मोक्षार्थ अन्तःकरण के धर्मों में किसी प्रकार परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं है । यदि आवश्यकता है तो इसी बात के निश्चय करने की है कि मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तानन्द, आत्मा हूँ मुझमें ग्रहण, त्याग, विकार द्वन्द्व नहीं है ।

देखिये ! ब्रह्मा सृष्टि रचते हैं, विष्णु पालन करते हैं, शंकर संहार करते है, जनक, राम, कृष्ण, अर्जुन, हनुमान, युद्ध करते हैं । पाराशर, वेदव्यास, अमर्यादित भोग करते हैं, दुर्वासा क्रोध करते हैं, वामन लोभ दर्शाते हैं, कुन्ती चार पति से सम्बन्ध कर चार सन्तान कर्ण, युधिष्ठिर, भीम व अर्जुन को जन्म

देती है । द्रौपदी पांच पति करती है, पांच पांडव एक पत्नी से भोग करते हैं । राम रावण को, कृष्ण कंसादि को, हनुमान राक्षसों को मारता है, राजा बन अपराधी को दण्ड भी दिया जाता है, सन्तान उत्पन्न भी करते हैं तो भी इन्हें ज्ञानी ही कहा जाता है । इनके ज्ञान में किसी प्रकार न्युनता नहीं आती न ये मुक्ति से भ्रष्ट ही होते हैं । क्योंकि वे सभी ज्ञानी महापुरुष काम, क्रोध, मोहादि सभी रूपों को धारण करने पर भी चिदाभास–अन्तःकरण के ही धर्म जान स्वयं उदासीन साक्षी ही बने रहते हैं ।

देहाभिमाने गलिते ज्ञातेन परमात्मनः ।
यत्र–यत्र मनोयाति तत्र तत्र समाधया ।।

जिनको सद्गुरु कृपा से आत्मनिष्ठा के उदय हो जाने के कारण देह अहंकार सर्वथा छूट गया है, ऐसे आत्मदर्शी महापुरुष की दृष्टि जब भी जहाँ भि पड़ती है वह समाधिस्थ ही कहलाता है । अज्ञानी समाधि लगा कर भि बाहर ही बना रहता है । जब कि ज्ञानी व्यवहार में रहकर भी समाधिस्थ ही कहलाता है । ज्ञानी भेद में भी अभेद, सम आत्मा का ही दर्शन करता है । किन्तु अज्ञानी की समाधि होने पर भी द्वैत दृष्टि नहीं टूटती है ।

जिसे विक्षेप हो एवं भेद भासता हो वह समाधि के लिये साधन करे एवं भेद दूर करने हेतु मन की वृत्ति को आत्माकार बनाने का अभ्यास करे । चाहे कोई हठयोग, आसन, प्राणायम कर वृत्ति को सुलाने, बेहोश अथवा अचेतन करने का दुराग्रह रूप बलात्कार करे एवं परिश्रम का कष्ट उठावे, किन्तु जिसके लिये सब आत्मा है उसे तो किसी से भी विक्षेप ही नहीं तो फिर समाधि साधन करने के लिये किंचित् भी कर्त्तव्य नहीं है । मैं साक्षी आत्मा हूँ, यही निष्ठा स्वधर्म है, जो मुक्ति को प्रदान करने वाला है तथा शरीर इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि एवं इनके विषय मैं हूँ, इस प्रकार दृश्य प्रकृति में अहंकार करना ही परधर्म में प्रीति करना है, जो जन्म–मरण रूपी महाभय

को देने वाला है ।

मन आतम की लहरी साधो,
मन आतम की लहरी रे ।
शिव से शक्ति भिन्न नहीं होवें,
काहे करे व्यभिचार रे ।।
मन है स्फूरण शक्ति ब्रह्म की,
दूसर नहीं कोउ पार रे ।। ... मन

आदि प्रकृति से मन चंचल,
जल तरंग वत् धार रे ।
जब लग देह प्राण का संग है,
तब लग मन है लार रे ।। ... मन

मन रोकन के जितने साधन,
मन का है विस्तार रे ।
मन अभाव को होवे तबहि,
जब देह होय छार रे ।। ... मन

जाग्रत, स्वप्न में मन चंचल,
सुषुप्ति समाधि अभाव रे
प्रकृति स्वभाव कोउ मेट सके नहीं
चाहे यत्न करो अपार रे ।। ... मन

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध
एक ज्ञान की धार रे
''शान्ता'' अखण्ड एक रस तू है,
सब साधन का सार रे ।। ... मन

● ॐ ●

काँच के लिये हीरा

प्रायः साधक छोटी-छोटी बातों को इतना अधिक महत्व देते रहते हैं कि वे जीवन के परम लक्ष्य आत्म स्वरूप की पहचान, आत्म साक्षात्कार से चुक ही जाते हैं । ध्यान रहे ! मन में विक्षेप आ जावे तो उसके लिये ज्ञान निष्ठा को मत छोड़ बैठो । अपने साक्षी स्वरूप में ही स्थित रहो । घर में यदि मच्छर, खटमल, साँप, चोर आदि अनइच्छित विजातिय तत्त्व प्रवेश कर जाने से कोई गृह का नाश या गृह छोड़ बाहर नहीं चला जाता है । बल्कि अपने गृह में मच्छरदानी का प्रयोग कर स्वयं बना रहता है । इसी प्रकार तुम साक्षी ही बने रहो इन मन के छोटे-छोटे खटमल, मच्छर, मक्खी, काक्रोच, चींटी आदि रूप अनात्म विचारों के कारण अपने निर्विकार, कुटस्थ, निर्द्वन्द्व आत्म विचार से न भागो जो भी बाहर से गृह में सजातिय या विजातिय मेहमान आया है वह चला जावेगा । आप उसके आवागमन के साक्षी ही रहें । आपने जिसे बुलाया नहीं, जो संकल्प स्वतः उठें है वे स्वतः चले जावेंगे, बैठ जावेंगे । उनको बैठाने, हटाने, मिटाने की जिम्मेदारी भी आप पर नहीं है, आप व्यर्थ क्यों परेशान होते हैं । जो उदय हुआ है वह अस्त होगा एवं जो जन्मा है वह मरेगा ही । आप उसके प्रति सम, शान्त रहे । नदी की धारा जो दूर है वह स्वतः आ रही है, आ ही जावेगी एवं जो धारा सम्मुख है वह जा रही है, चली ही जावेगी । आप समस्त शुभाशुभ वृत्तियों के साक्षी ही हो साक्षीवत् ही रहो । कुछ नूतन होने में जो नित्य है उसे भूले ही जा रहे हो और वह एक रस अखण्ड सत्ता तुम हो ।

यदि कोई हजार रूपये के मकान, जमीन को बचाने हेतु कोर्ट कचहरी लड़ लाख रूपया खर्च कर उसे बचा भी ले तो उस विजेता को कोई समझदार

नहीं कहेगा, क्योंकि उस मूल्यहीन को बचाने में बहुमूल्य समय एवं अपार धनराशि खर्च करना पड़गया । इसी प्रकार प्रायः साधक काम, क्रोधादि अति तुच्छ वृत्तियों से बचने हेतु इतने सक्रिय रहते हैं, इतने चिन्ताग्रस्त रहते हैं कि आत्म चिन्तन का अवकाश ही नहीं रह पाता । जैसे कोई संयमी, गृहस्थ पुरुष काम वासना को कार्य रूप में परिणाम को प्राप्त न होने देने के लिये २३ घंटे एवं ५५ मिनिट शक्ति पूर्वक दमन का मार्ग अपनाये रहता है । इतना कष्ट उठा, दमन कर, शक्ति एवं समय नष्ट कर यदि बचाया तो इसने कोई समझदारी का कार्य नहीं किया । जैसे कोई मूर्ख काँच को उठाने, बचाने में हीरे को ही फेंक दे या उठाना भूल जावे उसी प्रकार साधक मन को वश में करने में आत्म भाव दृढ़ करने की बात भूल ही जाता है ।

यदि तुम साधन कर वह वस्तु प्राप्त करना चाहते हो जो साधन के पूर्व तुम्हारे पास नहीं थी, तो फिर साधन करने से जो वस्तु प्राप्ति होगी, उत्पन्न होगी वह कालान्तर में पुनः नष्ट हो जावेगी । जो वस्तु परिच्छिन्न साधन साध्य होती है वह विनाशी एवं दुःख रूप ही होती है । यदि साधन से मोक्ष साध्य तत्त्व मानोगे तो तुम मोक्ष के कर्ता हो गये । विचारें ! आप आत्मा कर्ता हैं या अकर्ता द्रष्टा आत्मा हैं ? आनन्द चाहते हो तो भोक्ता बन गये । विचारो ! तुम आनन्द हो या आनन्द चाहने वाला भोक्ता ?

बुद्धि निरन्तर ब्रह्माकार नहीं रह सकती । व्यवहार काल, विक्षेप काल, स्वप्न काल, सुषुप्ति काल तथा मूर्च्छा काल में वृत्ति ब्रह्माकार नहीं रह सकेगी और बुद्धि को सदा ब्रह्माकार बनाये रखने का आग्रह करने वाले अज्ञानी सदा दुःखी ही रहेंगे ।

अन्तःकरण की कोई भी अवस्था तुम प्राप्त करना चाहते हो तो वह सूक्ष्म देहाभिमान करने पर ही सम्भव हो सकेगी । यदि तुम अपने को सच्चिदानन्द द्रष्टा, साक्षी, मुक्त आत्मा जानते हो तो फिर आत्मा में न अन्तःकरण है न उसकी वृत्ति है । यदि तुम अपने एक दृश्य चित्त की अवस्था

विशेष चाहते हो तो तुम व्यापक ब्रह्म न होकर एक परिच्छिन्न देह ही अपने को मानते हो ।

यदि तुमने सद्गुरु उपदेश से यह निश्चय कर लिया है कि 'जगत् सब सपना'', तब फिर अन्तःकरण एवं उसके धर्म सत्य कहां है ? अन्तःकरण तो जगत् श्रेणी का ही होने से जगत् के साथ मिथ्या सिद्ध हो गया । सबको मिथ्या कहने वाला साधक यदि अपने देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि को सत्य कहता है तो यह अभी स्वरूप से भ्रष्ट एवं भ्रान्त ही है । जैसे जगत् में असंख्यों कीट, पतंग, खटमल, मच्छर, पशु, पक्षी, बाघ, सर्प, मनुष्यादि दृश्य हैं उसी प्रकार मैं रूप में स्वीकार की जाने वाली देह भी उसी दृश्य श्रेणी में है । जब अन्य सभी देहों, इन्द्रियों, मनों से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है तब इस एक देह से ही क्यों प्रयोजन रखूँ ? जैसे अन्य अन्तःकरण में नाना प्रकार शुभाशुभ चंचल-शान्त, सुख-दुःख वृत्तियाँ होने पर भी मुझे विक्षिप्त नहीं कर पाती है, उसी प्रकार एक देह की स्थिति से मुझ में क्या अन्तर पड़ेगा ? सृष्टि के अनन्त जीवों की तरह इस देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण रूप जीव को भी उसी दृश्य में छोड़ दो । जैसे तुम उन अनेकों के मन के साक्षी हो इसी प्रकार इस देह अन्तःकरण के भी तुम केवल साक्षी हो । इस एक देह ही को क्यों इतना आग्रह से पकड़ रखना चाहते हो ? परिच्छिन्न में अहंकार करना ही अज्ञान एवं बन्धन है ।

यदि ऐसा माना जाय कि जब मन संकल्प रहित चंचलता रहित हो जायेगा तब हमारा योग, ज्ञान, भक्ति साधन सिद्ध हुआ माना जायगा । इस तरह तो प्रायः सभी सुषुप्ति अवस्था में अपने मन को बिना साधन के चंचलता रहित शान्त अनुभव करते हैं । मुर्च्छा, मरण में भी कोई चंचलता नहीं रहती है और जड़, पाषाण, वृक्ष को भी तो किसी प्रकार की अचंचल, स्थिर, शान्त अवस्था बिना साधन के ही सिद्ध है । तो क्या उनकी यह अवस्था पूर्ण

सिद्ध ज्ञान रूप कही जावेगी ? अपने पेन, चश्में, जूते, छाते को क्या संकल्प होता है, क्या इन्हें अपने कार्य के लिये अहं वृत्ति रहती है कि इस जीवन में कितना मैंने लिखा एवं कितना लिखूँगा, देखा एवं देखूँगा, चला एवं चलूँगा ? तो क्या आप भी पत्थर, वृक्ष, जूता, चश्मा, पेन की तरह जड़ अवस्था चाहते हैं ? ऐसी अवस्था को ही मोक्ष मानेंगे तो फिर मनुष्य जीवन, सद्गुरु ज्ञान का कोई महत्व ही नहीं रहेगा एवं सब बिना मनुष्य जीवन एवं सद्गुरु के ज्ञान के स्वतः ही मुक्त हो जावेगें । जहाँ चेतना ही नहीं वहाँ मुक्ति-बन्धन का भी भान नहीं होगा । जाग्रत में ही बन्ध-मोक्ष की कल्पना होती है । जहाँ अपना ही होश नहीं वहां किसी प्रकार की ऊँच-नीच, बन्ध-मोक्ष अवस्था का क्या उपयोग ? अतः अपने को साक्षी निष्कर्त्तव्य रूप ही जानो ।

यदि तुम मन की किसी विशेष अवस्था की प्रतिक्षा कर रहे हो एवं उसे पाकर सुख रूप मानते हो तो फिर आप स्वयं आनन्द रूप नहीं हुए । यदि किसी अन्य वृत्ति को ज्ञान स्वरूप मानते हो तब तुम चैतन्य रूप नहीं हुए एवं किसी अवस्था विशेष को सत मानते हो, तब तुम सत स्वरूप नहीं हुए, जबकि वेद सच्चिदानन्द ब्रह्म की ''**तत्त्वमसि**'' महावाक्य द्वारा जीव के साथ एकता सिद्ध करता है कि वही ''**सत्यं ज्ञानं अनन्तं आनन्दं ब्रह्म**'' तुम ही हो । किन्तु आश्चर्य एवं दुःख की बात है कि तुम्हारा अनुभव इसके विपरीत ही है । तुम अपने को असत, जड़ तथा दुःखरूप विकरी, विनाशी शरीर मानते हो एवं परमात्मा से अपने आत्म स्वरूप भिन्न ही मानते हो

ज्ञान के प्रारम्भ में तो साधक को सद्गुरु द्रष्टा-दृश्य विवेक करा दृश्य को असत् एवं द्रष्टा को सत्, दृश्य को जड़ एवं द्रष्टा को चेतन तथा दृश्य को दुःखरूप एवं द्रष्टा को आनन्द रूप निश्चय कराते हैं । किन्तु जीव के मन को यह असत्, जड़ तथा दुःख के मिथ्या अभिमान से मुक्ति दिलाने हेतु सच्चिदानन्द स्वरूप का चिन्तन मात्र औषध है । औषध स्वास्थ्य या भोजन तो नहीं है ।

रोग निवृत्ति पर दवा, भूख निवृत्ति पर भोजन छूट जाते हैं । उसी प्रकार सामान्य ज्ञान स्वरूप का बोध होने पर ''मैं आत्मा द्रष्टा, सत्-चित-आनन्द हूँ'' की विशेष अहं बुद्धि भी शांत हो जाती है । यदि अपने को द्रष्टा ही जाना तो दृश्य कौन सत्ता है ? जबकि वेद कहता है कि यहाँ एक मात्र ब्रह्म के सिवा अन्य कुछ भी नहीं है । यदि आप अपने को द्रष्टा ही जानेंगे एवं अन्य सब को दृश्य मानेंगे तब तो फिर आपने अपना ही खंड कर लिया । आप अपने अखण्ड स्वरूप को नहीं जान पाये । जैसे स्वप्न में न दृश्य है न द्रष्टा या द्रष्टा ही सब दृश्य है उसी प्रकार एक आत्मा ब्रह्म से पृथक् यहाँ कुछ भी अन्य द्वैत जैसा नहीं है ।

● ॐ ●

मन रूपी लगाम

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धि तुम सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ।।

– कठोप १/३/३

यहाँ यमराज नचिकेता को आत्म स्वरूप का संकेत करते हुए शरीर को एक रथ के रूप में तथा विषयों को मार्गों के रूप में, इन्द्रियों को घोड़ों के रूप में, मन को उन घोड़ों के संकेत देने वाली लगाम के रूप में एवं बुद्धि को रथ चलाने वाले सारथी के रूप में तथा जीवात्मा को रथ में बैठे यात्री के रूप में दर्शा रहे हैं । यदि सत्सगं द्वारा बुद्धि को जीवात्मा द्वारा सत प्रेरणा मिलती रहे तो शीघ्र ही रथ परमात्मा के धाम में पहुँच सकता है ।

जैसे घर के भीतर प्रकाश अन्धकार का निवर्तक है किन्तु अंधकार में जो टकराहट के कारण सामान स्थानान्तर हो गया या टूट-फूट गया उसे व्यवस्थित रखने एवं ठीक करने का काम प्रकाश नहीं है उसी प्रकार ज्ञान तो

भ्रान्ति का निवर्तक है, वह अन्तःकरण के धर्मों में भाव-अभाव रूप परिवर्तन करने वाला नहीं है । मुमुक्षु को भी मुक्ति हेतु अन्तःकरण के धर्मों में किसी प्रकार परिवर्तन करनेकी आवश्यकता नहीं है । यदि आवश्यकता है तो इसी बात के निश्चय करने की है कि मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तानन्द आत्मा हूँ, मुझमें ग्रहण-त्याग, विकार, द्वन्द्व नहीं है ।

विचारें ! ब्रह्मा सृष्टि रचते हैं, विष्णु पालन करते हैं, शंकर संहार करते हैं, जनक,राम, कृष्ण, अर्जुन, हनुमान युद्ध करते हैं । पाराशर, वेदव्यास अमर्यादित भोग करते हैं, दुर्वासा क्रोध करते हैं, वामन लोभ दर्शाते हैं, द्रौपदी पांच पति करती हैं, पांच पाण्डव एक पत्नी से भोग करते हैं, राम रावण को, कृष्ण कंसादि को, हनुमान राक्षसों को मारता है, राजा बनकर अपराधी को दंड भी दिया जाता है, अनेको सन्तान उत्पन्न भी करते हैं तो भी इन्हें ज्ञानी ही कहा जाता है, इनके ज्ञान में किसी प्रकार न्युनता नहीं आती न ये मुक्ति से भ्रष्ट ही होते हैं । बल्कि काम, क्रोध, लोभ, मोहादि सभी रूपों को धारण करने पर भी चिदाभास-अन्तःकरण के ही धर्म जान स्वयं उदासीन, मुक्त एवं साक्षी ही बने रहते हैं ।

दुःख की बात है जीवात्मा विषय संसार के मोह में फंस बुद्धि को सत प्रेरणा देना बंद कर देने से बुद्धि रूपी सारथी असावधान हो गया । उसने मन रूपी लगाम को इन्द्रिय रूपी दुष्ट घोड़ों की इच्छा पर छोड़ दिया । परिणाम यह हुआ कि जीवात्मा विषयासक्त हो मन के अधीन होकर बारम्बार संसार चक्र में डालने वाले लौकिक शब्द, स्पर्शादि विषयों में भटकने लगा एवं परमात्मा से भिन्न एवं अपने से दूर अनुभव करने लगा तथा अपने से जो विषय, मन, इन्द्रिय, प्राण, देहादि भिन्न संघात् थे उन्हें अपना रूप मानने लग गया है ।

देखिये ! रथ को घोड़े ही खींचते चलते हैं, परन्तु उन घोड़ों को

इच्छित मार्ग पर ले जाना लगाम पकड़े हुए बुद्धिमान सारथी का ही काम है । इन्द्रिय रूप बलवान और दुष्ट घोड़े स्वभाविक ही सुन्दर मनमोहक विषयों से भरे संसार रूप हरी-हरी घास के जंगल की ओर मनमाना दौड़ना चाहते हैं । परन्तु बुद्धि रूपी सारथी मन रूपी लगाम को जोर से खींच कर उन्हें वश में कर लेता है तो फिर इन्द्रिय रूपी घोड़े मन रूपी लगाम के सहारे चलने वाले मार्ग छोड़ इधर-उधर नहीं जा सकेंगे । यह सभी जानते हैं कि इन्द्रियां विषयों का ग्रहण तभी कर सकती है, जब मन उनके साथ होता है । घोड़े उसी ओर दौड़ते हैं जिस ओर लगाम का सहारा होता है । पर इस लगाम को ठीक रखना सारथी की बल बुद्धि पर निर्भर करता है । यदि जीवात्मा का सेवक बुद्धि रूपी सारथी विवेक युक्त, आज्ञाकारी, इन्द्रिय रूपी घोड़ों को चलाने में कुशल नहीं होगा तो मार्ग ज्ञान से अनभिज्ञ लक्ष्य पर दृष्टि नहीं कर सकेगा । वह इन्द्रिय रूपी घोड़ों को वश में न रख पाने से इन्द्रिय रूपी घोड़े मन रूपी लगाम को अपने वश करके रथ को अपने अनुकूल विषय रूप गड्ढे में ले जाकर गिरा देते हैं । जहाँ जीवात्मा रथी एवं सारथी बुद्धि अनादि काल से गड्ढे में गिर महान कष्ट को भोगते आरहे हैं । विवेकी बुद्धि के नियन्त्रण से रहिंत मन एवं इन्द्रियां उत्तरोत्तर उच्छृंखल ही होती चली जाती है ।

जो रथी जीवात्मा अपने सारथी बुद्धि को विवेक सम्पन्न बना लेता है और जिसके रथ का सारथी अपने लक्ष्य की ओर ध्यान रखता हुआ निरन्तर अपने हाथ में लगाम को पकड़े रख कर इन्द्रिय रूपी घोड़ों को विषय मार्गों से हटा सन्मार्ग पर चलाता रहता है, ऐसे सारथी का रथ शीघ्र एवं निर्विघ्न जीवात्मा को परमधाम पहुँचा देने में समर्थ होता है । जहाँ से पुनः संसार में लौटना नहीं पड़ता है ।

जो सारथी विवेकहीन एवं मन को वश में करने में असमर्थ है और जो दुराचार में प्रवृत्त इन्द्रियों को नहीं रोकता है वह मानव शरीर से प्राप्त होने

योग्य परम पद को प्राप्त न कर बारम्बार संसार चक्र में ही कूकर-शूकरादि विभिन्न निकृष्ट योंनियों में ही जन्म लेकर कष्ट पाता रहता है ।

● ॐ ●

मन का अविषय

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनोमतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।

– केनोप. १/५

बुद्धि और मन का जो विषय है चिन्तन एवं ध्यान तथा इनके द्वारा जो कुछ भी जानने में आता है तथा अशुद्ध मन-बुद्धि के द्वारा जिसकी भी उपासना होती है वह ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप नहीं है । परमात्मा का वास्तविक स्वरूप अशुद्ध मन, बुद्धि से सर्वथा अग्राह्य है ।

मन सै वेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन् ।

– कठोप. २/१/११

अर्थात् परमात्मा को सद्गुरु कृपा से शुद्ध मन द्वारा अहं रूप में ही जाना जा सकता है । कि यहाँ उनके अलावा अन्य कुछ नहीं है किन्तु परमात्मा को कभी भी अपने साधनों के बल से मन, बुद्धि द्वारा दृश्य एवं द्वैत रूप में कभी नहीं जाना जा सकता है ।

जो मन बुद्धि का ज्ञाता है जो मन को मनन करने एवं बुद्धि को निश्चय करने की शक्ति देने वाला है एवं इन्द्रियों को उनके कर्मों में नियुक्त करने वाला है । ***जिसकी शक्ति का अंश पाकर यह इन्द्रियाँ अपना-अपना मनन, चिन्तन, ध्यान, निश्चय रूप कर्म करने व अहंकार करने में समर्थ होती है, तुम उसे ही ब्रह्म जानो और वह तुम ही हो ।*** उस

शक्तिवान् परमात्मा का अहं रूप से सोऽहम् रूप से ही उपासना करो, किन्तु जगत् वाले अज्ञानी पुरुषों की तरह इस हृदय स्थित बुद्धि के साक्षी रूप परमात्मा की दृश्य रूप में कभी उपासना मत करो ।

''विज्ञातारमरे केन विजानीयात्''

– बृहदारण्यक उप.

जो सबको जानने वाला है उसे किसी प्रकार नहीं जाना जा सकता है ।

अतएव जो यह मानता है कि मैंने ब्रह्म को जान लिया है, मैं ज्ञानी हूँ, परमात्मा मेरा ज्ञेय हैं, वह वस्तुतः सर्वथा भ्रम में है । क्योंकि ब्रह्म इस प्रकार ज्ञान का विषय नहीं है । जितने भी ज्ञान के साधन है, उनमें से एक भी साधन ऐसा नहीं जो ब्रह्म तक पहुँच सके अस्तु ! इस प्रकार जानने का अहंकार करने वालों के लिये परमात्मा सदा अज्ञात ही है । जब तक जानने का अभिमान रहता है, तब तक परमेश्वर का साक्षात्कार नहीं होता । परमात्मा का साक्षात्कार उन्हीं भाग्यवान महापुरुषों को होता है, जिनमें जानने का अभिमान किंचित् भी नहीं रह गया है । संत तुलसीदास कहते हैं –

राम अतर्क्य बुद्धि मन वाणी,
मत हमार अस सुनहु भवानी ।

हे ज्ञानी जनो ! सावधान होकर सुनो । परमब्रह्म परमात्मा को कोई अपने प्राकृत मन, बुद्धि से नहीं जान सकता, पंच भूतों के कार्य रूप मन, बुद्धि प्रकृति को ही माप सकती है (प्रकृति पार सब उर पुर वासी) परमात्मा को नहीं जान सकती ।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मन सा सहः

– तैत्तिरीय उप.

क्योंकि मन, वाणी की गति, जाति, गुण, क्रिया तथा सम्बन्ध में ही

होती है । परमात्मा असंग, निर्गुण, निष्क्रिय तथा अद्वितीय है इस कारण परमात्मा मन, बुद्धि वाणी की पहुँच के परे होने से उसे जान नहीं सकते ।

''**मति न लखे जेहि मति लखे सो मैं शुद्ध अपार**''

अर्थात् मन उसका ध्यान नहीं कर सकता, वाणी उसका कीर्तन, भजन, गुणगान नहीं कर सकती, बुद्धि उसे जान नहीं सकती ''***ज्ञान मान जहां एकहुँ नाहिं***''

न सँदृशे तिष्ठति रूपमस्य नचक्षुषा पश्यति कश्चैनम् ।
हृदा हृदिस्थं मनसा य एनमेव विदुरमृतास्ते भवन्ति ।।

–श्वेताश्वतरोप. ४/२०

इस परम ब्रह्म परमात्मा को नेत्र द्वारा नहीं देखा जा सकता केवल सद्गुरु कृपा से दिव्य दृष्टि प्राप्त कर ज्ञान नेत्र द्वारा ही जान सकते हैं । भक्ति भाव से द्रवित सरल निर्मल मन वाले ही उन्हें 'सोऽहम्'' रूप से जान मृत शरीर से अहकंार छोड़ अमृतत्व को प्राप्त कर लेते हैं ।

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ।।

– केनोप. २/३

जो सद्गुरु कृपा से आत्म साक्षात्कार कर पाते हैं वे ज्ञानी महापुरुष परमात्मा के पाने का अहंकार नहीं दर्शाते हैं कि हमने परमात्मा को दृश्य रूप में कभी जाना है । बल्कि उनसे जब कोई अज्ञानी पूछता है कि तुम इतने शान्त, मौन क्यों बैठे हो, क्या तुमने परमात्मा को देख लिया, जान लिया है ? तब वे ज्ञानी महापुरुष उन्हें यही कहते हैं कि भाई ! हमने उसे दृश्य रूप से कभी नहीं जाना । जैसे नमक की डली पानी की गहराई में जाकर पानी को भिन्न दृश्य रूप में अनुभव नहीं करती है बल्कि स्वयं तद्रूप ही हो जाती है ।

इसी प्रकार ज्ञानी ''**ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति**'' ब्रह्म स्वरूप में स्थित हो जाता है । फिर उसके लिये ब्रह्म दृश्यरूप भिन्न नहीं रहता ।

जो यह अभिमान करते हैं कि मैंने ब्रह्म को जाना है उनका वह जानने का अभिमान दम्भपूर्ण है क्योंकि परमात्मा दृश्य नहीं द्रष्टा है । ज्ञेय रूप में जानने का अभिमान करने वालों से वह परमात्मा सदा अविज्ञेय ही रहता है ।

जिन महापुरुषों ने परमात्मा का साक्षात्कार किया है उन्होंने अज्ञानियों की तरह दृश्य रूप से जानने का अहंकार नहीं किया है बल्कि उस परमात्मा को ''सोऽहम्'', अहंब्रह्मास्मि, 'अयमात्मा ब्रह्म' के रूप में ही स्वीकार किया है । इस प्रकार जीव ब्रह्म में अभेद दर्शन ही ज्ञान कहा जाता है ।

''**अभेद दर्शनं ज्ञानं**''

– मैत्रेय उप.

ॐ

मन का साक्षी परमात्मा

'सर्वधी साक्षी भूतम्' सब भूत प्राणियों के मन, बुद्धि का जो प्रकाशक है वही परमात्मा है । साधक जिसको चैतन्य, देव, ब्रह्म, ईश्वर, परमात्मा, स्वयं प्रकाश आदि अनेकों नाम से पुकारते हैं वह देव तुम स्वयं हो । जो अपने को देह मानकर चैतन्य देव को अपने से भिन्न मानता है वह सदा बन्धन में रहता है ।

''जो पुरुष ऐसा जानता है कि मैं भिन्न हूँ और परमात्मा मुझसे भिन्न हैं और बुद्धि से वह अन्य देवता की उपासना भी करता है इसलिए वह देवताओं का पशु ही है । वह यज्ञादिक करके देवताओं को भाग देकर उनका काम

करके पशु बना रहता है । ''

''जो पुरुष अद्वैत ब्रह्म में भेद बुद्धि करता है वह बारम्बार मृत्यु को प्राप्त होता है ।''

अस्तु ! भेद बुद्धि को छोड़कर एक चैतन्य देव को सर्व के मन का साक्षी सद्गुरु एवं शास्त्र कृपा से निश्चय कर अभेद बुद्धि द्वारा मोक्ष प्राप्त करना चाहिये ।

स्मृति में भी गुरु शिष्य के संवाद द्वारा सर्व के मन के साक्षी को ही एक परमात्मा सिद्ध किया है ।

उपनिषदों में परमात्मानुभूति का वर्णन अनेकों प्रकार से हुआ है उन में एक प्रकार यह भी है ।

गुरुकूल में शिष्यों को आचार्यवर पढ़ा रहे थे -

एको देवः सर्व भूतेषु गुढ़ः सर्वव्यापि सर्व भूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधीवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ।।

अर्थात् एक परमात्मा ही सब भूत प्राणियों की आत्मा रूप में विद्यमान है जो सर्वाधिष्ठान चैतन्य कर्मों के साक्षी कैवल्य ज्ञान स्वरूप निर्गुण निराकार है ।

एको हंसो भूवनास्यमध्ये सएवाग्नि सलिले सन्निविष्टो ।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनायः ।।

श्वेताश्वेतर उप. ६-१५

जैसे काष्ठ में अग्नि, तिल में तेल, दूध में घृत, वीर्य में सन्तान छिपी है उसी प्रकार वह परमात्म देव समस्त प्राणियों में विद्यमान है । उसे सद्गुरु से मैं रूप जानकर ही जीव मोक्ष को प्राप्त होता है । मुक्ति के लिये स्वात्मानुभूति

के अलावा अन्य कोई मार्ग नहीं है । देव को जानने से सर्व बन्धन छूट जाते हैं ।

उपरोक्त श्रुति वचन को सुनकर जिज्ञासु शिष्य ने अपने आचार्य श्री से पूछा हे गुरुदेव ! जिस परमात्म देव को आप सब प्राणियों में बता रहे हैं, वह इस शरीर में मेरे द्वारा किस प्रकार से जाना जा सकेगा । को देवः ?

आचार्य श्री ने कहा बेटा ! इस शरीर में जो तेरे मन का साक्षी है वह ब्रह्म ही है । ''यो मनः साक्षी'' ।

यह सुनकर जिज्ञासु शिष्य ने कहा कि मैं उस देव का अनुभव कैसे करूँ ? मेरे मन का साक्षी ब्रह्मा, विष्णु, शंकर हैं या इन्द्र वरूणादि देव हैं ?

आचार्य श्री ने कहा बेटा ! तेरे मन का तू ही साक्षी है । वही ब्रह्म है ।''मन की जाने राम'' ।

ॐ

मन की जाने राम

गुरु के वचन पर शिष्य ने विश्वास किया । एकान्त में बैठ मन की अवस्था अवलोकन करने से ज्ञात हुआ कि मन को तो वह स्वयं ही जानता है कि वह कहाँ है ? क्या सोचता है ? क्या चाहता है ? कब दुःखी एवं सुखी होता है । कब चंचल एवं शान्त होता है, कब वह बहिर्मुख एवं कब अन्तर्मुखी होता है ।

जब जिज्ञासु ने यह स्पष्ट जान लिया कि मेरे मन का मैं ही साक्षी हूँ तब वह अपने श्री गुरुदेव के समीप जाकर साष्टांग दण्डवत् प्रणाम कर कहता है – हे प्रभो ! आपके कथानुसार मैंने अपने मन की दशा को पहचाना है, अतः मैं

मन का द्रष्टा, साक्षी तो हूँ, किन्तु मैं साक्षी ही वह परमात्मा हूँ यह कैसे हो सकता है ?

गुरुदेव ने कहा यदि तुमने अपने मन को देख लिया तो ''तुम्ही वह देव हो'' जिसके जानने से जीव समस्त बन्धनों से छूट मुक्ति को पा जाता है ।

''तर्हि देवस्त्वमेवाऽसि''

अर्थात प्रत्यक् चैतन्य स्वयं प्रकाश देवरूप साक्षी आत्मा तू ही है ।

शिष्य ने पुनः कहा मन का साक्षी मैं परमात्मा हूँ यह कैसे विश्वास किया जावे कृपया मुझे बतावें । तब श्रुति ज्ञान शिरोमणी सद्गुरु ने श्वेताश्वेतरो उपनिषद का प्रमाण देते हुए कहा –

''एको देवः इति श्रुतेः''

अर्थात् ब्रह्म से लेकर चींटी पर्यन्त सर्व भूतों में स्वयं प्रकाश चैतन्य रूप एक अद्वितीय आत्म देव ही है और 'वह तू है' (तत्त्वमसि)। तथापि विवेक रहित अज्ञानी लोगों को अज्ञानजन्य आवरण के कारण देहाभिमान द्वारा वह देव स्वयं होते हुए भी अपरोक्ष रूप से नहीं जाना जाता इसलिये इसे गूढ़ कहते हैं ।

इसलिए हे जिज्ञासु ! ''मन बुद्धि का जो साक्षी आत्मा है सो देव है ''ऐसा निश्चय करके अपने से भिन्न देव की भ्रान्ति छोड़ दे । क्योंकि श्रुति में कहा है कि –

''द्वितीया द्वै भयं भवति''

अर्थात् जो अखंड आत्म सत्ता में मैं–तू रूप द्वैत देखता है वह जन्म–मरण रूप बन्धन को प्राप्त होता है ।

भागवत में भी कहा है

''भयं द्वितीया ऽभिनिवेशतःस्यात''

अर्थात द्वैत (भेद) में आग्रह करने से जन्म-मरण आदि रूप भय प्राप्त होता है । इसलिए सर्वथा भेद बुद्धि का त्याग ही करना चाहिये एवं ''मन की जाने राम'' अर्थात् अपने मन की अवस्था जानने वाला राम कोई अन्य को नहीं पहचानना चाहिये । बल्कि वह मन का साक्षी, ज्ञाता मैं ही परमात्मा हूँ ऐसा निश्चय पूर्वक मान जीवन मुक्ति का अनुभव करना चाहिये । श्रुतियों में भी कहा है- ''**एकमेवाद्वितीय ब्रह्म**'' परमात्मा को एक एवं अद्वितीय कहा है एवं द्वैत का खंडन किया है । ''**नेह नानास्ति किंचन**'' ।

जो अद्वैत वेद सिद्धान्त का तिरस्कार कर अन्य मत का प्रतिपादन, समर्थन, पालन करता है वह पंडित होकर भी ज्ञानीजनों के मध्य मूर्ख ही है।

प्रायः सभी मन की शिकायत लेकर प्रश्न किया करते हैं कि हमारा मन बहुत चंचल है, हमार मन दुष्ट है, हमारा मन पापी है । पता नहीं सब मन को वश में करके या मन का नाश करके क्या होना चाहते हैं ? द्रष्टा कभी दृश्य तो हो नहीं सकता । ज्ञाता कभी ज्ञेय नहीं हो सकता । ध्याता कभी ध्येय नहीं हो सकता । बहुत आश्चर्य है कि तुम चंचल हो या चंचल मन के साक्षी हो ? तुम दुःखी हो या दुःख के साक्षी हो ? यदि मन, जल, अग्नि, सूर्य, नीम, गन्ना, नीबू कुत्ता, सर्प, बिच्छू, बाघ आदि अपना-अपना स्वभाव नहीं भूलते हैं तब तुम इतने समझदार होकर अपना द्रष्टा साक्षी आत्मभाव क्यों भूल जाते हो ? क्या मन ने भी कभी कोई शिकायत की, कि मेरा स्वामी सदा मेरी ओर क्यों अखंड दृष्टि रखता है । फिर तुम्हारे द्वारा मन की शिकायत करना क्या शोभा देता है ?

मन से उपयोग लेते रहिये । उसके कार्य एवं अवस्था को अपना कार्य एवं अपनी अवस्था न माने । फिर उसका अज्ञान-ज्ञान, चंचल-शान्त,

बन्ध–मोक्ष, सुख–दुःख रूप धर्म आपको नहीं लगेगा । लगता तो अभी भी नहीं है किन्तु मान लिया जाता है कि अब मैं दुःखी, अब मैं सुखी हूँ । सच बताईये ! क्या आप दुःखी है या दुःख के साक्षी, दुःख के द्रष्टा है ? वास्तव में तो दुःखी कोई और होता है और आप व्यर्थ में ही चिल्ला पड़े अरे ! बचाओ ! अरे मेरा मन चला गया, यह कैसा मोह है ? 'मेरा' का दर्द 'मैं' मान बैठा ? किन्तु मेरा कभी मैं नहीं होता, कुत्ता, घर, मल जो मेरा कहलाता है वह कुत्ता, घर, मलादि को तो मैं नहीं माना जाता है फिर मेरा कहलाने वाले चंचल हुआ मन को मैं चंचल क्यों मान लेते हैं ?

एक बुढ़िया घर के तीसरे मंजिल पर बैठी ठण्ड के दिनों में धूप से शरीर तपा रही थी, उसके बेटे का बेटा घर के पास ग्राउंड में खेल रहा था एक बालक जल्दि से ऊपर आकर कह गया तुम्हारे पप्पु को बिच्छु खा गया । इतना सुनते ही वह बुढ़िया अपनी छातियाँ दोनों हाथों से पीटने लगी एवं रोते हुए कहने लगी "हाय बचाओ रे कोई, मेरा बेटा !" "हाय मैं मर गई...." । विचारों ! वहाँ पप्पु को तो बिच्छू ने डंक मारा, पर यहाँ इस बुढ़िया को किसने डंडा मारा ? बस इसी प्रकार हम अन्य के धर्म को स्वधर्म मान दुःखी हो चिल्ला रहे हैं । इसलिये कहा है कि –

"परधर्मों भयावहः"

दूसरों के धर्म में अहंकार करना–जन्म–मृत्यु रूप ८४ लाख के बंधनों एवं भय को दिलाता है । अतः

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज ।

– गीता १८/६६

समस्त बाह्य इन्द्रियों के धर्मों को उन–उन इन्द्रियों को ही उन कर्मों का कर्ता जाने तथा उस कार्य को उनके ही अकाउन्ट में ही क्रेडिट (जमा) करें, किन्तु अपने द्रष्टा, साक्षी अकाउन्ट में जमा नहीं करें । आपका साक्षी भाव

जो है उसी भाव की एकमात्र निष्ठा रखें अन्य की नहीं, द्रष्टा साक्षी भाव छोड़ दूसरा भाव धारण कर ही जन्म–मरण का भय एवं दुःख दिलाता है । द्वैत भाव ही मृत्यु है ।

''द्वितीयाद्वै भयं भवति''

बच्चे को खेल–खेल में चोंट लगी, थोड़ा रक्त उभर आया, माँ छाती पीट रोने लगी, चिल्लाने लगी हाय मैं मर गई ! मेरा बेटा ! मेरा कभी मैं नहीं होसकता । यही मोह है एवं इसका कारण स्वरूप अज्ञान है ।

● ॐ ●

मन बिना मुक्ति कहाँ

देखिये ! अपने अनुभव की ही बात है, हवाई जाहज, ट्रेन, मोटर, यात्री अपनी यात्रा में होते हैं तब इन्जन, पटरी, सड़क के गड्डे से पहियों की रगड़ की ध्वनी, किसी के टेप रिकार्ड, ट्रान्जिस्टर, टी.वी. या पंखे की आवाज, तो किसी की जोरों से बात या लड़ाई की अवाज, दिन की तेज धूप एवं प्रकाश कोई भी आपकी नींद में बाधा डालते हैं या आप गहरी नींद का आनन्द लेते रहते हैं ? नाम कीर्तन, भजन में जोरों से नाम ध्वनी, मृदंग, करताल, चिमटा, मटकी, ढोलक, मंजीरा, ताली की आवाज वेदान्त केशरी के प्रवचनों की गर्जना नींद प्रेमियों को विघ्न रूप लगती है या सुलाने में सभी साधन काम्पोज की गोली सा काम देते हैं ?

यात्री अपनी मंजिल पर पहुँचना चाहता है इसलिये सभी बाधा, विघ्न का उपयोग लेते हुए पहुँच जाता है । यदि यात्री उस रेलगाड़ी की ध्वनी को बन्द कराने की चेष्टा करेगा तो रेल इन्जन ही बन्द करना होगा, तब फिर

रेलगाड़ी वहीं रुक जावेगी एवं यात्री मन्जिल पर नहीं पहुँच पावेगा । इसी प्रकार आप मन को शरीर रथ का इन्जन या लगाम समझें जो परमधाम की ओर जगत् पटरी पर चल रहा है । रथ के घोड़े दौड़ेंगे तो आवाज होगी ही । तुम उस ओर से वृत्ति हटा लो एवं काम बना लो । घर में भी नींद न आने पर पंखे, टेपरेकार्ड, टी.वी., ट्रांजिस्टर की आवाज, पत्नी या नौकर द्वारा बेमनी से तेल मालिस का धक्का आदि को आप अपने नींद के सहयोगी साधन बना ही लेते हैं या नहीं ? मन द्वारा यदि बन्धन होता है तो उसी से बन्धन को निवृत्ति भी होगी ।

मन के हारे हार है, मन के जीते जीत ।
कह कबीर हरि पाइये, मन ही के प्रतीत ।।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयो

– पारासर

मन जैसा अनन्य सेवक मिलना समस्त ब्रह्माण्ड में दूर्लभ है । फिर भी बेचारे को प्रायः सभी गलत समझ बदनाम करते रहते हैं एवं बिना कारण अपमानित करते रहते हैं कि मन बड़ा दुष्ट है, मन बड़ा पापी है, मन बड़ा चंचल है, मन बड़ा शैतान है । वह बेचारा सभा में संतों के द्वारा भी तिरस्कार को पाता है एवं अपनी हत्या अर्थात् मनोनाश कराने की कथा युक्ति अपने सम्मुख अपने कानों से सुनता है एवं अपनी हत्य करानेल के लिये संतो के समीप ले जाने में मालिक का सहयोग भी करता है । कैसा सरल, सीधा, निराभिमानी मन है ? जो अपनी निंदा स्वामी द्वारा सुनकर भी स्वामी के प्रत्येक कार्य दिन–रात समान रूप से श्रद्धा पूर्वक करता रहता है ।

मन का होना सभी को अप्रिय लगता है किन्तु मन की शून्यता यदि किसी साधन से कर दी जावे तो लोक–परलोक के साधनों को बिना मन किस से करा सकेंगे ? मन आत्म देव के पास आकर सुषुप्ति में आंचल में मुंह छिपा

रोता है एवं कहता है ये सभी लोग एवं संत महात्मा मुझे जप, माला, ध्यान, प्राणायाम, समाधि आदि साधनों के द्वारा दंड देकर मार देना चाहते है एवं सैकडों के मध्य अपमानित भी करते रहते हैं । अब आप ही बतलावें मैं आपको छोड़, आपके राज्य छोड़ कहीं भी बिना बताये जाता हूँ ? मैं अपने समय पर ठीक पूर्ण ईमानदारी से काम करता हूँ, एवं जाग्रत, स्वप्न के कार्य से छूटते ही सुषुप्ति काल में मैं अपने घर आपके पास लौट आता हूँ । अब आप ही बतावें आप कहाँ नहीं हैं जहाँ मैं जाकर रहूँ ? आपके पास रहता हूँ तो प्रारब्ध जगा कर सेवा कार्य हेतु भेज देता है एवं कार्य करता हूँ तो शिकायत सुनने कीसबसे मिलती है कि हमारा मन बहुत चंचल है । हे आत्मदेव ! सर्वत्र तो आपका राज्य है फिर अधिष्ठान जल को छोड़ तरंग जाए तो कहां जाए ?

मन जो कार्य करता है एवं वह जहाँ भी जाता है वह अधिष्ठान आत्मा से छुपकर तो कहीं चोरी से बाहर नहीं जाता है । सर्वदा साक्षीत्व में ही तो भ्रमण करता है । बाहर किसी भी स्थान पर जावे किन्तु डोर तो जितनी आप चाहते हो उतनी ही घट-बढ़ होती है । मन रूप पतंग की स्वतन्त्र सत्ता तो है ही नहीं । मोटर के पहियों को ड्रायवर जिस ओर काटना चाहे उसी ओर स्टेरिंग घुमाता है पहिये उस ओर चलने को बाध्य हो जाते हैं । इसमें पहियों का क्या दोष ? मन से जिस क्षण जो काम कराना चाहते हैं वह ब्रह्माण्ड की यात्रा पर निकला होने से भी तत्काल स्वामी का सिगनल, संकेत पाते ही वहाँ से लौट सेवा में उपस्थित हो जाता है । तब बताईये वह चंचल कहाँ है ? भला अपने घर के आंगन में या मां की गोद में भी बच्चा न खेले तो कहाँ खेले ? बच्चा तो फिर भी माँ को छोड़कर बाहर चला जाता है, कोई उठा ले जाता है, उसे ढूँढने जाना पड़ता है । ढूँढने पर भी वह मिले न मिले कोई विश्वास भी नहीं । किन्तु इसी प्रकार क्या आपने कभी अपने मन को भी कहीं दूर जाते एवं खोते देखा है ? क्या मन को ढूँढने, बुलाने हेतु आपको कभी कहीं जाना

या श्रम करना पड़ता है ? क्या याद करते ही उसने कभी एक सेकण्ड की भी सम्मुख होने में देरी की है ? फिर मन को चंचल कैसे कहते हैं ? याद रखो ! घर के या बाहर के सभी लोग, आपको छोड़ भाग जाते हैं किन्तु मन जन्म से मृत्यु तक सर्वदा साथ ही रहता है, केवल इसी जन्म के लिये नहीं जन्म जन्मान्तर मन साथ निभाता है । देह सम्बन्धी चाहे पति हो, पत्नी हो, पिता हो या माता वे सब प्रति जन्म बदलते ही रहते हैं । मन के समान अन्य कोई अनन्य भक्त नहीं हो सकेगा ।

मन कितना भोला है, कितना सहिष्णु है । किन्तु तुम उसे देश निकाला देना चाहते हो । उपदेशक संत एवं साधक मन को समझने में सदियों से भूल करते आ रहे हैं । मन निर्दोष अनासक्त, समदर्शी निर्विकार ही है । आज तक किसी का मन किसी विषय में आसक्त नहीं हुआ । यदि किसी का मन किसी एक विषय में आसक्त हो जाता है तो फिर उसके द्वारा अन्य कार्य होना सम्भव नहीं हो पाता । मन अपने जाग्रत काल में स्वामी के लिये पांच प्रकार के भोग सामग्री को सिद्ध करने हेतु प्रयत्नशील रहता है । किन्तु स्वयं किसी भी विषय में आसक्त नहीं होता । मन पानी की तरह है । उसे जिस आकृति के बर्तन में ढाल दो वह वैसा ही प्रतीत होता है । मन को श्रोत, त्वचा, चक्षु, जिह्वा तथा घ्राण द्वार से निकाला जाने से वह शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंधाकार तो अवश्य धारण करता है किन्तु किसी भी विषय में आसक्त नहीं होता । पांच ज्ञानेन्द्रियों की सेवा अकेला मन ही करता रहता है । जब जिस इन्द्रिय के साथ जाता है उस समय अन्य इन्द्रियों के विषय का संकल्प भी नहीं उठाता । मन से जब एक काम पूर्ण होता है तभी वह दूसरी ओर दृष्टि डालता है । बिना मन की एकाग्रता के किसी विषय का बोध ही नहीं हो पाता है ।

● ॐ ●

मन एक दर्पण है

दर्पण के सम्मुख जब जैसा रूप होता है उसे वह उसी प्रकार दर्शा देता है । अपने में उसको दिखाने न दिखाने का अहंकार भी नहीं करता है । भला-बुरा कैसा भी दृश्य होता है दर्पण उदासीनवत् दर्शा देता है । आपका मन भी इसी प्रकार का दर्पण है । जब जो इन्द्रिय द्वार से निकल कर जाता है उस इन्द्रिय से वही विषय ज्ञान अर्जन कर ही दूसरे के लिये चेष्टा करता है किन्तु राग-द्वेष नहीं करता है ।

यदि बन्धन का कारण मन है तो मुक्ति का कारण भी वही मन है । जैसे पिस्तोल, बन्दूक अपनी ओर चलाया जावे तो मृत्यु का कारण होता है एवं हमला करने वाले पर चलाया जावे तो वही हमारे मृत्यु से मुक्ति का भी साधन है ।

"मन एवं मनुष्याणां कारण बन्ध मोक्षयो"

मन के हारे हार है, मन के जीते जीत ।
कहे कबीर हरि पाइये, मन ही के परतीत ।।

अज्ञान के कारण मन को बन्धन हुआ है । गुरु ज्ञान से इसे ही मुक्ति का भी अनुभव कराना है । आत्मा में तो न बन्ध है न मुक्ति ।

जीव को न स्वप्न के कर्मों से जन्म-मरण का भय होता है न सुषुप्ति की गहरी नींद से । केवल जाग्रत के ही कर्मों से जीव को जन्म-मृत्यु रूप ८४ लाख योनियों का भ्रम हुआ है । अतः अविचार से जो दुःख एवं बन्ध की प्राप्ति जाग्रत अवस्था में होती है, उस दुःख एवं बन्ध की निवृत्ति स्वप्न या सुषुप्ति अवस्था की प्राप्ति से कभी नहीं हो सकेगी । मन की जाग्रत अवस्था होने में ही उसे विशेष सुखानुभूति होती है । अतः उस मन को जाग्रत अवस्था

में ही सुखी करने वाला विचार साधन चाहिये ।

प्राणायाम, ध्यान, समाधि आदि समस्त साधन तो मन को मुर्च्छित, जड़वत्, बेहोश बनाने के साधन है । दुःख ऐसे नहीं मिटेगा । जिस अवस्था की भूख या रोग है उसी अवस्था का भोजन या औषध से उसकी निवृत्ति होगी । स्वप्न के रोग या भूख जाग्रत के औषध या भोजन से नहीं जावेगी । जाग्रत के औषध या भोजन से स्वप्न के रोग या भूख नहीं मिट सकेगी । सम सत्ता ही आपस में साधक या बाधक होती है विषम सत्ता नहीं । दुःख जन्म-मृत्यु भय तो जाग्रतावस्था का है एवं समाधि, सुषुप्ति, मुर्च्छा यह उन-उन अन्यावस्था का सुख है । तब उन-उन अवस्था के सुख द्वारा जाग्रत का दुःख द्वन्द्व कैसे दूर हो सकेगा ? कदापि नहीं ।

कबूतर, बिल्ली को देख आँखें बंद कर लेता है एवं शुतुर्मुर्ग रेगिस्थान में शत्रु से रक्षा पाने हेतु भागना छोड़कर शत्रु को देखकर सर रेत (बालु) में छिपा लेता है, यह सोचकर कि मैं शत्रु को देखूँगा ही नहीं तो वह मुझे कैसे मार सकेगा ? इसी प्रकार बिल्ली जब दूध पीती है तो आँख बन्द कर पीती है ताकि उसे कोई दिखाई न पड़े एवं वह निर्भय हो दूध पी सके, किन्तु बिचारी आँख बन्द करने मात्र से डन्डा खाने से बच नहीं पाती है । शुतुर्मुर्ग भी रेत में सर छुपाने मात्र से शत्रु के तीर से घायल होने एवं कबुतर आंखें बन्द कर लेने मात्र से बिल्ली से बच नहीं पाता है । इसी प्रकार समाधि, सुषुप्ति, मुर्च्छा आदि अवस्थाओं के द्वारा कोई भी देहाभिमानी बिना आत्म ज्ञान हुए दुःख द्वन्द्व एवं भय से बच नहीं पाता है । इसी बात को आदि जगद्गुरु शंकराचार्य अपने विवेक चूड़ामणि ग्रन्थ में लिखते हैं -

न योगेन न सांख्येन कर्मणा नोन विद्यया ।
बह्मात्मैकत्व बोधेन मोक्षः सिद्धयति नान्यथा ।।

- विवेक चूड़ामणि-११

आदि जगद्गुरु श्रीमद् शंकराचार्य जी महाराज कहते हैं कि अष्टांग योग, सांख्य योग, कर्म योग, भक्ति योगादि साधन मात्र से मुक्ति की प्राप्ति नहीं होगी वह तो सद्गुरु की कृपा से तत्त्वमसि आदि महावाक्यों का भाग त्याग लक्षणा द्वारा जीव ब्रह्म के एकत्व निश्चय से होता है । मुक्ति के लिये सोऽहम् निष्ठा के अलावा कोई अन्य स्वतंत्र मार्ग नहीं है अर्थात् देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि के धर्मों से रहित मैं जीव साक्षी, कूटस्थ, आत्मा एवं ईश्वर साक्षी मैं ही शुद्ध ब्रह्म हूँ । इस प्रकार जीव-ब्रह्म एकत्व भाव याने 'सोऽहम्' निश्चय द्वारा ही जीव मुक्ति को प्राप्त कर पाता है मुक्ति के लिये अन्य एक भी उपाय नहीं है ।

● ॐ ●

पक्षपात मत करो

सभी साधक मन के साथ शत्रुता का ही व्यवहार करते हैं उसको अपने धर्म में विचरते देख सह नहीं पाते । कितने आश्चर्य एवं पक्षपात की बात है कि २१६०० बार श्वास-प्रश्वाँस होता रहता है आँखों की पलकें बारम्बार उठती-गिरती रहती है उनके लिये कोई शिकायत नहीं करता कि इन पलकों का उठना बन्द करो । इन श्वाँसों का चलना बन्द करो । अपान वायु, मुत्र, मल, छींक न होवे तो व्यक्ति परेशान हो उठता है एवं उसके लिये औषधादि साधन लेता है । कान सब ओर सुन लेता है, त्वचा सब प्रकार का स्पर्श कर लेती है, नेत्र सबको देख लेते हैं, जिह्वा सब प्रकार के रसों का रसास्वादन करती है । घ्राण सब प्रकार के गन्धों का ग्रहण करती है, पैर सब ओर यात्रा करते हैं । इसी प्रकार बुद्धि हर विषय का निर्णय देती रहती है । जब आपके आत्म राज्य में सभी को अपने-अपने धर्मों में बर्तने की स्वतन्त्रता है तब इस बेचारे मन को ही उसके धर्म मनन, चिन्तन से क्यों पथ

भ्रष्ट कर अधर्मी बनाना चाहते हैं ? उसे क्यों प्राणायाम, ध्यान, समाधि साधन रूप क्रास पर टांग फांसी देना चाहते हैं ? प्रिय जिज्ञासुओं ! जीओ एवं जीने दो । हंसो और हंसने दो । खाओ और खाने दो । कोई भूखा मरे एवं कोई घर में अपचन होने तक खाता रहे यह तो कोई न्याय नहीं है । जब समस्त इन्द्रियों के कर्म–धर्म के तुम साक्षी बने रहते हो तो फिर मन के विषय में ही कर्ता क्यों बनते हो ? अन्य समस्त क्रियाओं की तरह तुम मन के भी द्रष्टा ही रहो । द्रष्टा ही हो और जो मन का द्रष्टा है वही परमात्मा है ।

''को देवः यो मनः साक्षी,' सर्वधी साक्षी भूतम्''

जो मन, बुद्धि का साक्षी है, वही परमात्मा है । इसका विस्तार पूर्वक वर्णन सीता गीता एवं मैं अमृत का सागर ग्रन्थ में देखें ।

● ॐ ●

श्रेय तथा प्रेय

भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को काम, क्रोध, लोभ, मोह नरक के द्वार बता कर इन तीनों मनोवृत्ति को त्यागने का संकेत कर रहे हैं ।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ।।

– गीता १६/२१

अर्थात् जो अज्ञानी केवल विषय भोग में ही सुख बुद्धि कर जीवन को नष्ट कर रहा है वह अवश्य ही अन्धकार से पूर्ण पशु–पक्षी आदि योनि रूप नरक का कष्ट भोग करेगा । अतः इस नरक द्वार रूप देह, इन्द्रिय तथा विषय आसक्ति का त्याग कर अपने आत्म कल्याण के लिये इन्ही वृत्तियों द्वारा मोक्ष को प्राप्त करना ही प्रेय को छोड़ श्रेय को ग्रहण करना है ।

वेदों में सुख के दो प्रकार के साधन, मार्ग बतलाये हैं –

श्रेय अर्थात् समस्त दुःखों से छुटकारा एवं अखण्डानन्द की प्राप्ति एवं प्रेय अर्थात् धन, पुत्र, मकान, सम्मान, लौकिक या परलौकिक सुख जो क्षणिक एवं अन्त में दुःख देने वाला है ।

जो बुद्धिजीवी दूरदर्शी साधक हैं वे तो तत्कालिक इन्द्रियजन्य सुखों से विरक्त होकर श्रेय अर्थात् अखण्डानन्द की प्राप्ति हेतु साधन करते हैं ।

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।।

– गीता. १८/३६

अवश्य ही इन्द्रिय निग्रह, मन संयम साधन चतुष्ठयता प्रथम साधक को, कठिन एवं नीरस जान पड़ते हैं किन्तु साधन चतुष्ठयता द्वारा जब वह एक बार सद्गुरु के निकट पहुँच वेदान्त विषय का श्रवण, मनन, निदिध्यासन तथा तत्वमसि महावाक्य द्वारा निजात्म स्वरूप को साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म रूप जान लेता है, तब वह ''**ब्रह्मवित ब्रह्मैव भवति**''

ब्रह्म को अपरोक्ष रूप से जानने वाला स्वयं ब्रह्म रूप अनुभव कर सदा के लिये जन्म–मरण के दुःखों से छूट जाता है ।

लेकिन जो अज्ञानी पुरुष होते हैं वे तो परिणाम में सुख पाने वाले ज्ञान–वैराग्य साधन को व्यर्थ जान इन्द्रियों को तत्काल मिलने वाले प्रेय सुख को ही जीवन का लक्ष्य बना देव दुर्लभ मानव योनि नष्ट कर परिणाम में नरक रूप पशु–पक्षी योनियों में जाकर अपार कष्ट को प्राप्त करते रहते हैं ।

''**यत्तदग्रे ऽमृतोपमम् परिणामे विषमिव**''

– गीता १८/३७

अर्थात् जो सुख पंच इन्द्रियों के विषयों द्वारा तत्काल मिलता है, एवं मनुष्य के बल, बुद्धि, स्वास्थ्य को नष्ट कर परिणाम में कीट, पतंग, पशु,

पक्षी आदि अन्धकार पूर्ण योनियों में जन्म ग्रहण कराते हैं । जहाँ जाकर आत्म ज्ञान का प्रकाश नहीं हो सकता है अज्ञानी पुरुष उन योनियों में गिर कर असहनीय वेदना को भोगता रहता है ।

अधिकांश अज्ञानी विषयासक्त लोग तो भोगों में ही परम सुख बुद्धि कर उनके लिये ही जीवन पर्यन्त साधन, चिन्तन, मनन, करते रहते हैं । कोई भाग्यशाली ही प्रेय को छोड़ श्रेय मार्ग अपनाता है । जो सद्गुरु से आत्म ज्ञान प्राप्त कर सदा मिलने वाली अखंड शान्ति को प्राप्त न हो केवल सांसारिक सुख के साधन में फंस मानव जीवन के परम लक्ष्य परमात्मा की प्राप्ति रूप यथार्थ प्रयोजन को सिद्ध नहीं कर पाता है । ऐसे आत्मज्ञान से रहित अज्ञानी पुरुष तो चिरकाल तक मिलने वाले दुःख रूप ८४ लाख के चक्र को ही पाता है ।

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्य मेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः ।
श्रेये हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योग क्षमाद्वृणीते ।।

– कठोप. १/२/२

तात्पर्य यह है कि यह जीवन भोग वासना पूर्ति हेतु प्राप्त नहीं हुआ है बल्कि आत्मज्ञान प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त करने हेतु मिला है ।

यह तन कर फल विषय न भाई ।
स्वर्गउ स्वल्प अन्त दुःख दाई ।।

अस्तु –

जो न तरे भव सागर नर समाज अस पाई ।
सो कृत निन्दक मंद मति आत्महन गति जाई ।।

जो ऐसे देव–दुर्लभ मानव जीवन एवं सद्गुरु को प्राप्त करके भी अपने को इस दुःखपूर्ण जीवन सागर से उद्धार करना नहीं चाहता है वह शुभकर्मी होते हुए भी ज्ञानी मनुष्य के सम्मुख मन्दमतीवाला तथा निन्दनीय कर्म करने

वाला मूढ़ आत्म हत्यारे तथा अधोगती को प्राप्त होगा ।

● ॐ ●

काम, क्रोध, लोभ मुक्ति द्वार

यह शरीर पंच महाभूतों के २५ तत्त्वों का कार्य है । यदि इसमें एक महाभूत को निकाल दिया जाय तो यह देह ही समाप्त हो जावेगा । इस देह में प्रत्येक भूत एवं उनके तत्त्वों का समान महत्वपूर्ण स्थान है ।

जो लोग कहते हैं कि काम, क्रोध, शोक, मोह, लोभादि का नाश करो, त्याग करो, छोड़ो उनका यह कहना स्थूल दृष्टि से नहीं बल्कि सूक्ष्म दृष्टि से ही है । क्योंकि स्थूल दृष्टि से काम, क्रोध, शोक, मोह, लोभादि धर्मों के त्याग की बात होगी तो इनके प्रथम इन्हें धारण करने वाले आकाश धर्मी का ही त्याग करना होगा; क्योंकि धर्मी रहते उसका धर्म का त्याग या अभाव नहीं किया जा सकता है । अग्नि रहते जैसे दाहकता का अभाव नहीं किया जा सकता है उसी प्रकार प्रारब्ध रहते हुए देह, प्राण तथा मन की मनोवृत्तियों का भी त्याग नहीं हो सकता है । मन तो अपंचिकृत भूतों के सम्मिलित सत्त्व गुणों का परिणाम है । अज्ञान के नाश बिना सूक्ष्म शरीर का नाश नहीं होता है एवं सूक्ष्म शरीर के रहते अन्तःकरण का एवं उनके कार्य मनोवृत्तियों का भी अभाव नहीं किया जा सकता है ।

विचारें क्या आज तक कोई भी देहधारी मनुष्य, संत, अवतार इनका त्याग कर जीवित रह इहलोक या परलोक की सिद्धि प्राप्त कर पाया है ?

जीवन रक्षा हेतु, पारिवारिक जीवन निर्वाह हेतु भी इन्हीं काम, क्रोध, लोभ मोहादि वृत्तियों की जरूरत है । इन वृत्तियों के अभाव में तो जीवन रक्षा ही नहीं होगी तब धर्म, अर्थ, काम, तथा मोक्ष जैसे पुरुषार्थों की सिद्धि किस

साधन से कर सकोगे ? स्वस्थ शरीर एवं सात्विक मन द्वारा ही यह चारों या चारों मे से किसी एक की सिद्धि प्राप्त की जा सकती है अन्यथा काम, क्रोधादि प्राकृतिक शक्ति के बिना हृदय पत्थर ही कहलावेगा । जिन्हें न मन है न शोक, काम, क्रोध, लोभ मोहादि वृत्तियाँ है न सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास आदि है ।

निष्पक्ष बुद्धि से विचारें तो अवतार रूप में कहलाने वाले शक्तिशाली महापुरुषों के जीवन में भी इन काम, क्रोध, लोभ, मोह, शोकादि वृत्तियों का प्रकाट्य स्पष्ट प्रतीत होता है अन्यथा वे पुनः पुनः जीवन धारण कर पृथ्वी पर कभी नहीं आते ।

सम्भवामी युगे युगे – गीता ४/१

यह युग–युग में आने का कारण क्या है ? तो उसका कारण कामना बता रहे हैं साधु पुरुष, भक्तों का उद्धार करने हेतु एवं

''**परित्राणाय साधूनां**'' और फिर क्या करेंगें तो कहते हैं ''**विनाशाय च दुष्कृताम**'' क्या यह कामना नहीं है, कि दुराचारियों को धर्म मार्ग में चलाकर उन्हें सदाचारी बनाऊँगा ।

ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि

– गीता २/३३

यदि इन अवतारी महापुरुष की बात को न माना जावे तो क्या होगा ? तो कहते हैं – स्वधर्म एवं कीर्ति को त्याग कर पाप को प्राप्त होगा । क्या यह वचन बिना क्रोध के कहे जावेंगे ? संसार में भी जब अपने बच्चे को किसी अवज्ञा के कारण कह देते हैं कि ''जा साले मर'' तो भगवान कहते हैं तू स्वधर्म के त्याग से स्वर्ग से गिर जावेगा एवं प्राप्त पाप रूप फल को भोगने नरक में पड़ेगा यही वचन पुनः कह रहे हैं –

मच्चितः सर्व दुर्गाणि सत्प्रसादात्तरिष्यसि ।

अथ चेत्तवमहंकारन्न श्रेष्यसि विनङ्क्ष्यसि ।।

– गीता : १८/५८

मेरा कहा मानेगा तो तर जावेगा और यदि नही मानेगा तो तू नष्ट हो जावेगा । स्वधर्म से भ्रष्ट होगा अर्थात् नरक में पड़ेगा । क्या यही अर्जुन द्वारा ईश्वर दर्शन, भगवत दर्शन की महिमा है, किन्तु फिर भी ज्ञान चक्षुहीन अज्ञानी अन्धों को भगवान के दर्शन का दुराग्रह कृष्ण के प्रत्यक्ष दर्शन करने वाले भक्त अर्जुन की दुर्दशा देख के भी समझ में नहीं आता है ।

मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रति जाने प्रियोऽसि मे ।

– गीता १८/६५

मैं सत्य प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ कि तू मुझे बहुत प्रिय है, यह क्या मोह का रूप नहीं है ?

यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्

– गीता ११/४७

मेरा यह परम तेजोमय रूप मैंने पहले किसी को नहीं दिखाया केवल तेरे को ही दिखा रहा हूँ । ऐसा क्यों ? क्योंकि तू मेरी आत्मा है, तू मेरा प्यारा है । क्या यह पक्षपात नहीं है ?

''**संभवामि युगे–युगे**'' यह बारम्बार युग–युग में आना लोभ नहीं है ?

किन्तु कृष्ण भगवान या संत के लिये, यही काम, क्रोध, लोभ, मोह, शोकादि मुक्ति दायक लोक कल्याणकारी एवं अंगरक्षक वरदान ही सिद्ध होते हैं । जबकि अज्ञानी इन्द्रिय विषयासक्ति में इन्हीं प्रकृति शक्ति को नष्ट कर स्वयं भी श्रेय मार्ग से नष्ट हो प्रेय को ग्रहण कर नरक रूप दुःख को देने वाली निम्न योनियों को प्राप्त होता है ।

कहने का तात्पर्य यह है कि शक्ति का नाश नहीं हो सकता केवल उसकी दिशा बदली जा सकती है । काम, क्रोध, लोभ यह प्रकृति जन्य शक्ति मानव को उसके धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों के लिये प्राप्त परमात्मा की कृपा है, किन्तु यह जीव इन शक्तियों को केवल अपने देह, इन्द्रिय सुख हेतु ही उपयोग में लाता है । अपने जीवन कल्याण के साधन अर्थात् परमात्म प्राप्ति के लिये इन शक्तियों को उपयोग में नहीं लाता है । इसीलिये यह देव-दुर्लभ मानव जन्म से नीचे गिरा दिया जाता है ।

त्रिविधं नरकस्ये द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभ स्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत ।।

– गीता १६/२९

काम, क्रोध तथा लोभ यह तीनों दैविक शक्तियाँ मुमुक्षुओं के लिये जैसे मुक्ति के द्वार रूप परमधाम पहुँचाने में सहयोगी है, उसी प्रकार इन्हीं शक्तियों का दुरूपयोग करने वाले भोगी पुरुषों के लिये यह सब अनर्थों के मूल नरक के द्वार रूप है । क्योंकि आत्म बोध जाग्रति हेतु यह मानव जीवन ही एक मात्र साधन स्थल है । यदि यहाँ आत्म भाव जाग्रत न कर केवल पशुवत् आहार, भय, मैथुन् तथा निद्रादि भोगों में ही आसक्त हो जीवन नष्ट कर दिया तो यह आत्म भाव को प्राप्त न होने वाला आत्म हत्यारा अधोगति को प्राप्त होकर असहनीय कष्टों को ही भोगा करेगा

जो नर तरे भववागर नर समाज अस पाई ।
सो कृत निन्दक मन्दमति आतमहन गति जाई ।। – रामायण

अतएव साधकों को चाहिये कि वे इन दैविक शक्तियों का उपयोग केवल जीवन निर्वाह हेतु करते हुए अपने परम कल्याणार्थ इन दिव्य शक्तियों को निरंतर उपयोग में लायें । यहाँ यही तात्पर्य है- श्रीकृष्ण द्वारा अपने प्रिय सखा अर्जुन के लिये उदघोषित किया गया है न कि इन काम, क्रोध, लोभ

आदि दिव्यशक्तियों को समूल रूप से नष्ट करने के लिये कहा गया है, क्योंकि शक्ति का कभी नाश नहीं होता है केवल हमें रूपान्तरित ही करना है ।

यदि काम, क्रोध, लोभ, मोह को सम्पूर्ण रूप से विनाशकारी जान कुछ न करेंगे तो जीवन निर्वाह भी कैसे हो सकेगा ? फिर किसी प्रकार के काम करने की इच्छा भी जाग्रत नहीं होगी । अनीति करने, हिंसक, अत्याचारी तथा चोर आदि के प्रति भि क्रोध भाव जाग्रत न होगा न अपने परिवार पलन के लिये धनार्जन करने नौकरी, व्यपार, खेती करने अथवा भिक्षावृत्ति का लोभ जाग्रत हो सकेगा और न बाहर ग्राम, नगर, शहर, प्रान्त विदेश से लौट घर आने का मोह ही जाग्रत होगा ।

अतः कामना करें तो अपने कल्याण की करें । क्रोध करें तो अपने दुर्गुणों पर करें । लोभ करे तो सत्संग व सद्गुरु का करें । मोह करे तो संत चरणों में करें तथा अहंकार करें तो 'अहं ब्रह्मास्मि', 'शिवोऽहम्', 'सोऽहम्' भावना का करें तो परम कल्याण रूप होगा । सबका कल्याण होगा । सबका मंगल होगा ।

सच्चे संत भी जगत् कल्याण की कामना करते हैं ।

सर्वे भवन्तु सुखीनः सर्वेसन्तु निरामया ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखभाव भवेत ।।

अतः इन काम, क्रोध, लोभ, मोह रूप दैविक शक्तियों को खराब न जाने, बल्कि इनका अच्छे रूप में उपयोग करें । यही कृष्ण भगवान का कहने का तात्पर्य है कि जैसे मैं इन्हीं काम, क्रोध, लोभ, शोक मोहादि वृत्तियों को अपने जीवन में प्रकट कर लोक कल्याण कर रहा हूँ ऐसे तुम भी करो । यदि में ही नहीं करुँगा तो अन्य जीव भी इनका उपयोग न कर अधोगती को प्राप्त

करेंगे, और मैं हत्यारा बनूँगा ।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ।।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ।

– गीता : ३/२३-२४

जब कि मेरे लिये कुछ भी करना कर्तव्य रूप नहीं है । मुझे किंचित् भी अप्राप्त नहीं है तो भी मैं लोक कल्याणार्थ कर्म में बर्तता हूँ ।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्माणि ।।

– गीता : ३/२२

उपरोक्त गीता कथानुसार ज्ञात होता है कि काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दिव्य शक्ति प्रत्येक शरीर धारी प्राणी को लोक तथा परलोक प्राप्त करने के लिये प्राप्त हुई । यदि कोई इन शक्तियों का दुरुपयोग करता है तो वह अधोगति को भी इन्हीं शक्तियों के द्वारा प्राप्त कर सकता है । जैसे बिजली शक्ति के उपयोग, दुरुपयोग दोनों ही ज्ञानी एवं अज्ञानी पर निर्भर करता है । अग्नि के बिना किसी कार्य की सिद्धि नहीं है, किन्तु उसे खाली हाथ से स्पर्श करने से वह दाहकता प्रदान कर कष्ट देती है एवं शीत के दिनों में दूर से ताप लेने एवं युक्ति से काम लेने से सुखप्रद भी लगती है ।

तात्पर्य यह है कि जो काम, क्रोधादि वृत्तियाँ विषयोन्मुख व्यक्ति के लिये नरक रूप बन्धन का हेतु है वही मनोवृत्ति, द्रष्टा, साक्षी भाव में रमण करने वाले के लिये मोक्ष रूप ही हैं । जैसे जिस चाबी से ताला बन्द होता है उसी चाबी से उस ताले को खोला जाता है ।

● ॐ ●

मन को मत सताओ

अनादि से आज तक जाग्रत अवस्था में कोई भी मन को नहीं रोक सका । केवल बहुत अभ्यास के फल स्वरूप कुछ समय के लिये समाधि में ही मन को जाग्रत अवस्था में कोई अन्य काल के लिये ठहरा पाते हैं । मृत्यु, सुषुप्ति, मुर्च्छा में ही अल्पकाल के लिये बिना प्रयास स्वतः स्थिर होता है । मन को रोकने का साधन खोजना ऐसी ही नासमझी का कार्य है जैसे बन्दर को शराब पिला कर शांत करना । याने एक तो मन चंचल था ही फिर उसे शान्त करने के निमित्त जो उससे साधन करावेंगे तब उससे उसकी चंचलता घटेगी या बढ़ेगी ? उसे आप साधन के द्वारा पूर्व अपेक्षा अधिक चंचल श्रमी ही बनायेंगे । यह कैसे होगा कि कोई को दौड़ा कर शान्ति का मार्ग प्रसस्त करे । दौड़ना शान्ति का मार्ग नहीं, स्थिरता से ही शान्ति का जन्म होता है । अतः मन पर से साधन का बोझ हटा विचार द्वारा विश्राम दिलाना चाहिये । क्या साधन करने वाला कोई दूसरा रेडीमेड मन बाजार से खरीद ले आओगे जो चंचल मन को शान्त कर फेंक दिया जावेगा ? मन तो एक ही है उस चंचल मन के द्रष्टा अपने को जानना ही मनोनाश है ।

कैसी आश्चर्य की बात है कि सब लोग मन को रोकने का ही उपदेश कर रहे हैं । यह कैसे हो कि ब्रह्मचारी रह कर बच्चे पैदा करें ? ज्ञानी महापुरुष का मन बोलने का संकल्प करता है तभी तो वे दूसरे को उपदेश दे रहे हैं । जब स्वयं वक्ता का ही मन मौन, चुप न रहा तो श्रोता का मन कैसे संकल्प रहित हो पावेगा ? तो इससे सिद्ध हुआ कि मन को वश में करने का मतलब उसे स्वरूप से जड़, शून्य अथवा संकल्प रहित बना देना नहीं है । बल्कि जीवन निर्वाह, परिवार पालन करते हुए दृश्य, वस्तु में से सत्य एवं सुख बुद्धि का हटा लेना है । दृश्य से दृष्टि हटा कर द्रष्टा पर ले आना ही समाधि

कहलाती है । बस मन रूप नदी के विचार धारा को देखते रहो, उसमें अच्छे बुरे का चुनाव न करो, क्या बहे एवं क्या न बहे ?

विचारें ! भैंस, घोड़ा, पशु को चाबुक, डन्डा मारने से वे शान्त हो बैठेंगे या तीव्र गति से दौड़ करेंगे ? यदि शान्त करना है तो उनकी लगाम को ढीली ही छोड़ना होगी एवं लकड़ी, चाबुक की मार बंद करना होगी । यदि कहेंगे कि मन की लगाम ढीली कर देंगे तो वह अधिक चंचल हो जावेगा और किसी विषय गड्ढे में ले जाकर गिरा देगा । किन्तु गुरु उपदिष्ट मुमुक्षु के लिये यहाँ गिरने का भय नहीं है क्योंकि तब न समुद्र है न रास्ते हैं न घुड़सवार है न गड्ढे, केवल एक अखंड सत्ता स्वयं ही सर्वत्र है ।

समदर्शी सतगुरु मिला दिया अविचल ज्ञान ।
जहं देखूं तह एक है, दूजा नहीं आन ।।

इन्द्रियाणां मन श्चास्मि – गीता : १०/२२

अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च – गीता : १०/२०

फिर कृष्ण कहते हैं इन्द्रियों में मन मैं हूँ एवं मैं ही आदि मध्य तथा सब भूतों का अन्त हूँ । तब कौन किसे कहाँ गिरावेगा ? समस्त स्वप्न प्रपंच एक मात्र स्वप्न द्रष्टा का ही मनोराज्य है । सत्य में सत्ता दृष्टि से वहां स्वप्न द्रष्टा से भिन्न किंचित् भी नहीं है । तब स्वप्न में हुई किसी भी क्रिया से स्वप्न द्रष्टा को क्या लाभ-हानि हो सकेगा ?

अस्तु मन को रोकना योग नहीं बल्कि मन के द्रष्टा, साक्षी स्वयं को जानना एवं क्रियाओं को दृश्य मन में जानना ही ज्ञान है । ''**योगः कर्मसु कौशलम्**'' यही कर्म में कुशलता है कि मैं द्रष्टा हूँ, कर्ता नहीं, बस इसी निश्चय से मोक्ष है ।

● ॐ ●

मन की शिकायत छोड़ो

यदि मन रोकना सम्भव हो भी सका, तब उस मन रहित मुर्दे शरीर को गुरु आश्रम से घर एवं घर से आश्रम कौन उठा कर ले जावेगा ? फिर उस मुर्दा शरीर से किसी व्यभिचारी के द्वारा दुराचार करते देख कौन रो-चिल्ला कर बचाव की चेष्टा करेगा ? बच्चे व पति को देख प्यार, सेवा कौन कर सकेगा ? भोजन बनाना, खाना, गृह कार्य कौन कर सकेगा ? अतः मन का चंचल होना, निज स्वभाव में बर्तना अशुभ नहीं शुभ ही है । मन की शिकायत मत करो । उसे चंचल, पापी, दुष्ट कहने की अपनी आदत को ही ठीक करो । मन तो ठीक ही काम कर रहा है अपने होश काल में ।

जो मन के कर्म में कर्तापन का एवं भोगों में भोक्तापन का अभिमान त्याग देता है वही पुण्य-पाप को लांघ जीवनमुक्त हो विचरण करता है । फिर उसके देह, इन्द्रिय,मन, प्राण द्वारा समस्त क्रिया प्रारब्धानुसार होने पर भी वह किंचित् बन्धन को प्राप्त नहीं होता है ।

यस्य नाहं कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ।।

– गीता १८/१७

किसी राजा का पुत्र दासी द्वारा पाला जावे एवं राजा मर जावे तो वह अपने को दासी पुत्र ही जान दासी के पास ही जीवन व्यतीत करता रहता है । इधर-उधर जीवन निर्वाह हेतु काम ढूंढता है । यदि उसे कोई अपने असली पिता एवं खजाने का पता बता दे तब वह क्यों अपने को दरिद्र माने एवं जीवन निर्वाह के लिये दूसरों की गुलामी करता हुआ दीन होकर हाथ पसारेगा ? इसी प्रकार मन सच्चिदानन्द ब्रह्म का ही अंश रूप सन्तान होकर इन्द्रियों की शरण में पड़ा इधर-उधर रूप, रस की तलाश में भटकता एवं दुःख पाता

है । यदि उसे अपने स्वामी आत्मा एवं ब्रह्मानन्द साम्राज्य का कोई संत अनुभव करा दे या होंश जाग्रत करादे, तो वह फिर बाहर क्यों जावेगा ? वह बेचारा सदा अखंडानन्द की आशा से ही तो प्रत्येक विषय रस का स्वाद लेता है किन्तु उसे उसमें अखंडानन्द प्रतीत नहीं होता है तब उसे तत्काल छोड़ अन्य विषय की और दौड़ पड़ता है । अब आप विचारें इसमें मन बालक का क्या दोष है ? उसे आप एक बार उसके असली स्वरूप एवं अखंडानन्द का परिचय करा दें तो फिर देखो मन बाहर कहां सुख बुद्धि कर जावेगा ? अर्थात् कभी कहीं नहीं जावेगा ।

● ॐ ●

मन को सच्ची शान्ति

जैसे कोई पुरुष किसी पक्षी को सूत्र से बांध विदेश से ला रहा हो अथवा स्वदेश से विदेश ले जा रहा हो तो वह पक्षी सूत्र की लम्बाई के अनुसार सभी दिशाओं में उड़ान भरता है एवं थक जाने पर लौट कर अपने बन्धन स्थान, गाड़ी, साइकिल, नौका, जहाज आदि पर बैठ विश्राम का अनुभव करता है । इसी प्रकार यह मन जाग्रत, स्वप्न, में नाना विषयों में भागता दुःख पाता है जब थक जाता है तब वह प्राण सुत्रके बन्धन स्थान आत्मा का ही आश्रय लेता है, क्योंकि मन रूप पक्षी प्राण रूप सूत्र से बंधा है एवं प्राण का दूसरा छोर आत्मा से जुड़ा हुआ है । इस प्रकार सुषुप्ति में मन आत्मा में लीन होकर परमानन्द का अनुभव करता है । वहाँ कोई विषय, व्यक्ति, दृश्य, अहंकार, द्वन्द्व नहीं है । इस प्रकार मन का मूल सतब्रह्म ही है । जिस अवस्था में यह पुरुष ''सोता है'' ऐसा कहा जाता है उस समय यह सत से सम्पन्न हो जाता है । यह अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाता है ।

● ॐ ●

मन की सोलह कला

६/८/१-२ छान्दोग्योप.

यह मन सोलह कलाओं वाला है । यदि कोई पुरुष पन्द्रह दिन भोजन नहीं कर, केवल यथेच्छ जल पान करे तो जल पीने से उसके प्राण पोषित होते रहेने से वह मरेगा नहीं; क्योंकि प्राण जलमय है किन्तु पन्द्रह दिन तक भोजन नहीं करने से उसकी स्मृति शान्त हो जावेगी । इस से मन को पिछला याद किया हुआ अपना पाठ उच्चारण करने को कहा जावेगा तो वह उसका स्मरण नहीं कर पावेगा, उसे स्फुरण नहीं हो सकेगा । क्योंकि मन की १६ कलाओं में से १५ दिन अन्न न खाने से केवल एक कला ही शेष रह गयी है । जैसे महान् अग्नि राशि बुझते-बुझते एक आग की चिन्गारी मात्र रह जावे तो उससे किसी वस्तु को जलाने का काम नहीं हो पाता है । यदि उस चिन्गारी को घास, रूई, काष्ठादि वस्तु का पुनः योग कराकर प्रज्वलित करा दिया जाय तो वह जलाने का काम कर पाती है । इसी प्रकार एक कला वाले मन को पुनः भोजन द्वारा अपनी १६ कलाओंयुक्त हो जाने पर उसे पढ़े पाठ का स्फुरण हो आता है । यह मन अन्न के सूक्ष्म भाग से बनता है । अन्न का मूल जल ब्रह्म है, जल का मूल तेज ब्रह्म है एवं तेज का मूल वही सत्यात्मा है । हे श्वेतकेतु ! वही तू है !

– ६/७/१-६ छान्दोग्योप.

ज्ञान की पूर्ण अवस्था वही है, जहाँ हमारे लिये ''ना'' करने जैसी कोई वस्तु शेष नहीं रहे । ''यह मैं हूँ'', ''यह मैं नहीं हूँ'' यह प्रथम कक्षा का उपदेश है । अन्तिम अवस्था तो पूर्णता अखंडता अद्वैतता के निश्चय में है । जैसे गोपियों की प्रारम्भिक अवस्था में दो-दो गोपियों के बीच में एक

कन्हैया दिखाई दे रहा था किन्तु साधन की पूर्णता पर द्वैत समाप्त हो जाने से इन्कार करने को कहीं कुछ नहीं रहा । बल्कि सब रूपों में वही स्वीकार हो गया है । वह अनुभव करने लगी ओत-प्रोत भाव में ''जित देखूँ तित श्याम'' ।

विश्व का जितना भी ''इदम्'' है, ''यह है'' वह सब मैं, (अहं आत्मा) रूप ही है । यदि ''यह मैं नहीं हूँ'' ऐसा ज्ञान ही दृढ़ कर लीया जाय तो फिर अपना ही खंड कर लिया । तुम जिसे इन्कार कर रहे हो, वह यदि तुम नहीं हो, तब फिर वह कौन है ? यदि मैं नहीं तो यह कहाँ ? अतः यह वह, मैं, तू सब एक आत्म तत्त्व ही है ।

अवधि अपार स्वरूप मम, लहरी विष्णु महेश ।
विधि रवि चन्द्र वरूण यम, शक्ति धनेश गणेश ।।

जा कृपालु सर्वज्ञ को हिय धारत मुनि ध्यान ।
ता को होत उपाधि ते मुझ में मिथ्या भान ।।

अर्थात् जिस प्रकार समुद्र से लहर अलग नहीं होती है, उसी प्रकार मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार एवं इनके देवता मुझ आत्मा से भिन्न नहीं है । जैसे एक आकाश मठ तथा घट उपाधि से मठाकाश तथा घटाकाश दो रूपों में प्रतीत होता है, तैसे ही एक ही परमात्मा माया उपाधि से सर्वज्ञ ईश्वर एवं अविद्या उपाधि से अल्पज्ञ जीव प्रतीत होता है । किन्तु घट, मठ उपाधि के रहते हुए या न रहते हुए आकाश अखंड ही है, उसी प्रकार अविद्या, माया उपाधि से रहित ब्रह्म सत्ता अखंड ही रहती है । अतः मन आत्मा की लहर होने से ब्रह्म रूप ही है । अपनी अखंडता, व्यापकता, सर्वरूपता का बोध ही एकमात्र मुक्ति प्रदाता ज्ञान है । क्योंकि द्वैत में भय को वेद बतलाता है ''**द्वितीया द्वै भयं भवति**'' ।

● ॐ ●

मन जैसा सेवक कहाँ

मन से शत्रु का भाव मिटा कर आत्मियता कर लें वह आत्मज ही है । आज्ञाकारी पति, पत्नी, पुत्र से ज्यादा अनन्य भक्त, मित्र एवं सेवक है । पति, पत्नी, सेवक, पुत्र, मित्र अवज्ञाकारी हो सकते हैं, आपके बुलाने पर आने में विलम्ब कर सकते हैं । क्योंकि वे आपको छोड़ दूरस्थ, भोजन, शयन, गमन क्रिया करते हैं । जैसे पुरुष की छाया सदा पुरुष के साथ एवं अभिन्न रहती है इसी प्रकार मन तुम्हारा अनन्य भक्त है ।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्म कर्म समाधिना ।।

– गीता ४/२४

अर्थात् यज्ञ, यज्ञ की सामग्री, अग्नि, ब्राह्मण, फल, यज्ञ कर्ता जब सभी ब्रह्म रूप है ऐसा तत्त्व दृष्टि वालों को प्रतीत होता है तब क्या मन ब्रह्म नहीं है ? अवश्य मन ब्रह्म ही है ।

अतः यह निश्चय करो कि मन के चंचल होने पर भी हम ज्यों के त्यों आनन्द रूप ही हैं । हमें अपनी पूर्णता के लिये चंचल मन के स्थिर होने की किंचित् भी अपेक्षा नहीं । यह प्रति रात्रि को सुषुप्ति द्वारा निश्चय हो जाता है ।

प्रकृति में सब कुछ प्रतिक्षण घड़ी की सेकण्ड सूई की तरह बदल रहा है । सात वर्ष में शरीर का प्रत्येक अंश नूतन हो जाता है । नदी, मौसम, ऋतुएं, हवा, चांद, सूरज, पृथ्वी आदि शरीर सब बह रहे हैं । तब फिर इसी प्रकृति के टुकड़े मन को क्यों बहने से रोकना चाहते हैं ? तुम तो मन नदी में अडिग चट्टान रूप साक्षी आत्मा हो । मन नदी बहे या स्थिर हो जावे साक्षी का न लाभ न हानि है । सुषुप्ति में स्वतः मन शान्त हो जाता है एवं उसके

शान्त होने के साथ शरीर फेक्ट्री के अन्य सभी कर्मचारी भी छुट्टी पर अपने–अपने घरों में चले जाते हैं । मन का प्रथम जागरण होता है, तभी वह अन्य इन्द्रियों को अपने–अपने योग्यता अनुसार काम में जोड़ता है । यदि मन को जाग्रत में किसी साधन से सुलाने की चेष्टा की गई तो मन के अभाव में कोई भी व्यावहारिक कार्य नहीं हो सकेंगे और शरीर जड़वत शून्य पड़ा रहेगा । अतः प्रकृति नियम से चलने वाले मन के धर्म में विकार न डालें एवं आप स्वधर्म में रहें । जैसे माँ को देख बच्चा स्फूर्तिवान एवं आनन्दित हो जाता है, मालिक को देख नौकर आलस्य छोड़ सावधान हो जाता है, पुरुष को देख स्त्री प्रफुल्लित, उत्तेजित हो जाती है, और चले जाने से सब निस्तेज दुःखी और आलस्यवान हो जाते हैं, उसी प्रकार सुषुप्ति में मन अपने साक्षी आत्मा की शक्ति पाकर आनन्दित एवं स्फुर्तिवान हो जाता है, किन्तु जाग्रत, स्वप्न में उससे विमुख हो संसार में भटक दुःख पाता है । मन इधर–उधर विषय भोगों की भीड़ में जा–जा अपने प्रियतम आनन्द को ढूँढता रहता है । जैसे मयूर, मयूरनी को देख नाचता, फुदकता है, उसी प्रकार साक्षी को देख मन आनन्दित होता है । मन तो तब चंचल कहलावेगा जब वह दृष्टि से छुप जावे एवं द्रष्टा उसे जहाँ–तहाँ ढूँढता–पुकारता फिरे । किन्तु ऐसा तो कभी नहीं हुआ कि द्रष्टा ने दृष्टि उठाई हो और मन सेवक सम्मुख न मिला हो ।

यदि तुम्हें थोड़ी भी विवेक शक्ति है तो विचार करो कि तुम आत्मा हो या अनात्मा ? आत्मा हो तो, पूर्ण हो या अपूर्ण ? पूर्ण हो तो एक देशीय हो या सर्वदेशीय ? सर्वदेशीय हो तो एक रूप हो या सर्वरूप ? सर्वरूप है तो मन ब्रह्म रूप है या अन्य रूप ? कार्य सदा कारण रूप ही होता है । इसलिये मन बह्म ही है ।

यदि तुम देह हो तो देह का चिन्तन करो । यदि तुम इन्द्रिय, प्राण हो तो इन्द्रिय प्राण का चिन्तन करो । यदि तुम मन हो तो मनके धर्म में अहंकार

कर सुखी-दुःखी, पापी-पुण्यात्मा, बन्ध-मोक्ष, चंचल-शान्त, कर्ता-भोक्ता अपने को जानो । यदि तुम आत्मा हो तो अपने को नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तानन्द, साक्षी, द्रष्टा आत्मा जानो ।

● ॐ ●

जैसी मति तैसी गति

याद रखो ! संसार में अपने को कोई छोटा मानने को तैयार नहीं है । हर व्यक्ति अपने योग्यता, सम्पत्ति, विद्या, बल को ज्यादा ही दिखाने के लिये उत्सुक है । तब फिर वेद आज्ञा ''वह तू है'', ''तत्त्वमसि'' सुनकर भी आप अपनी मति को अयमात्मा ब्रह्म, अहं ब्रह्मास्मि, सोऽहम्, शिवोऽहम् रूप निश्चय क्यों नहीं करते हो ? जब शास्त्र संत कहते हैं ''जैसी मति तैसी गति'' तो ब्रह्ममति बाल्मीकि की तरह बनाओ, जिससे ब्रह्म गति को प्राप्त हो सको । जीव मति, दास मति, अधम मति, सदा नीच, पापी, अधम जीव रूपता ही प्रदान करेगी । जैसी मृत्यु समय में जड़ भरत की मति थी वैसी ही भावी गति को वह प्राप्त हुए । अन्त मति सुधारने हेतु जीवन भर का किया चिन्तन अभ्यास भी काम आ सकेगा । जिसने जीवन भर काम का चिन्तन किया, राम को नहीं पुकारा तो उसे मृत्यु समय में राम का स्मरण कैसे हो सकेगा, शान्ति कैसे मिलेगी ? अस्तु गीता अनुसार ...

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भाव भावितः ॥ – गीता ८/६

यह विश्वास करो कि अन्तः में जैसी मति होती है वैसी ही गति होती है, तब अभी से हम मति को सुधारें ताकि अन्त में सुन्दर मति उदय हो तदानुसार भावी भी सुन्दर हो सके । जब मति से ही गति होती है तब मुक्ति

हेतु अन्य किसी साधन की आवश्यकता नहीं है । फिर जो ब्रह्म मति नहीं बनाकर कर्म रत रहता है वह कृपण एवं अज्ञानी ही तो कहा जावेगा, विवेकी नहीं ।

● ॐ ●

परमात्मा का ध्यान

देखी वस्तु का ही ध्यान होता है, जिसे देखा नहीं उस वस्तु का नाम सुन कल्पना ही हो सकती है । फिर विचारें आप सत्य का ध्यान करना चाहते हैं या असत्य का ? यदि सत्य का ध्यान करना चाहते हैं तो सत्य वही तत्त्व होता है जिसका तिनों कालों, तिनों अवस्थाओं में अभाव न हो और ऐसी अखंड सत्ता आप है । और जो सत्ता तीनों कालों में समान रूप से विद्यमान न हो उसे मिथ्या कहते हैं । अस्तु ! जिसने इन तीनों अवस्थाओं का अनुभव किया वह एक तू ही सत्य है । फिर मन भूतों का कार्य होने से भूत जगत् का ही ध्यान कर सकता है । भावातीत, गुणातीत आत्मा का ध्यान कभी संभव नहीं होगा । अतः मन के चिन्तन ध्यान में जो मूर्ति होगी वह जड़ माया का ही एक रूप होगा । सत्य तो वही जिसका हमें कभी भी अभाव न हो खोजना, बुलाना, प्रार्थना, प्रतिक्षा न करना पड़े ।

चंचल मन में पड़ने वाला प्रतिविम्ब कैसे स्थिर एकरस हो सकता है ? यदि ध्यान करने से इष्ट आ जाता है एवं ध्यान टूटने से इष्ट चला जाता है तब वह ईश्वर ध्यान के आधीन हो गया । आपके स्मरण चिन्तन के आधिन हो गया । फिर ध्यान का स्थान भ्रूमध्य अथवा हृदय है भी कितना अल्प ? यदि वहाँ व्यावहारिक सत्ता वाला कोई भगवान्, देवी, गुरु आदि मांस पिण्ड धारी प्रकट हो जावे तो उस ध्यानी का प्राणान्त ही हो जावेगा । अतः ध्यानावस्था में जो भी पदार्थ या व्यक्ति की झलक होती है वह स्वप्न में प्रतीत होने वाले

दृश्यों की तरह कल्पित अविद्या का परिणाम एवं चेतन का विवर्त है । जैसे टेलीवीजन पर या सिनेमा हाल में पर्दे पर प्रतीत होने वाले दृश्य मात्र प्रकाश ही है । प्रकाश से भिन्न सब कल्पना है वह सब फिल्म का परिणाम एवं प्रकाश का विवर्त मात्र है ।

यदि ध्यान में आने वाली वस्तु, पशु, व्यक्ति अवस्था व्यावहारिक सत्ता वाली भी होगी तो टूटने पर भी उनको विद्यमान रहना चाहिये । फिर तो जैसे कोई व्यक्ति स्वप्नावस्था में अपने को बाम्बे में देख रहा है, अपने नगर से दूर और नींद टूट जावे तो फिर उसे टिकिट लेकर ट्रेन, प्लेन या अन्य साधन से ही अपने नगर लौटना होगा । किन्तु ऐसा नहीं होता वह अपने घर में ही है । इस प्रकार ध्यान या स्वप्न में बिना देश, काल एवं सामग्री के जो पदार्थ प्रतीत होते हैं, वे सब प्रतीति मात्र मृग को मरुभूमी पर दिखने वाले जल की तरह असत भ्रान्ति रूप ही हैं ।

याद रखें ! जो आया है वह जावेगा । जन्मने वाला मरेगा, जो मिला है वह बिछुड़ेगा । जो प्रकट हुआ है वह अदृश्य भी होगा । जो खोया है उसे खोजना पड़ता है । किन्तु जो पूर्व में ही प्राप्त है उसे खोजना नहीं है, केवल उसे समझना पड़ता है कि वह यही है जिसे मैं खोया समझ कर खोज रहा था । अपने अन्दर भी उसे खोजना नहीं है, बल्कि स्वयं वही होने का निश्चय करना है । उस हेतु किसी श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु की शरण जा उनके वचनों में अपने कल्याण का विश्वास ही एकमात्र साधन है । इस प्रकार श्रद्धावान् ही सद्गुरु द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्ति के अधिकारी होते हैं एवं उनका वह स्वरूप ज्ञान ही मुक्ति प्रदायक सिद्ध होता है ।

दृश्य से दृष्टि हटाकर द्रष्टा पर, साक्षी पर ला जावे तो ध्यान हो गया, अब ध्यान करने की आवश्यकता नहीं है । ऐसा निश्चय होना चाहिये कि मैं आत्मा ही सर्वत्र समान हूँ । चित्त वृत्तियों में अच्छे बुरे का चुनाव किया नहीं

जाता बल्कि उनसे तटस्थ होना ही ध्यान है।

● ॐ ●

ध्यान किया नहीं जाता

चाहे आप सगुणोपासक हो या निर्गुण उपासक, अपने इष्ट के साथ एक हो जाना ही भक्ति, ध्यान, समाधि या ज्ञान की पूर्णता कहलाती है । यदि आपका मन आपमें है तो ध्यान सिद्ध हो गया । बाहर है तो वह किसी विनाशी संसारी पदार्थ या व्यक्ति में है । ध्यान तो यही है कि आप द्रष्टा सत्य है । मन पर जो भी दृश्य चित्र उठ रहे हैं उन्हें उठने दो, मिटते हैं तो मिटने दो । आप वहाँ से चित्त को न हटाने की चेष्टा करो न कहीं जोड़ने की चेष्टा करो । आपका ध्यान तो सहज सिद्ध ही है । हर अवस्था के आप द्रष्टा ही है । दृश्य बदल जावे तब भी द्रष्टा का ध्यान तो अखंड ही है । स्वप्न दृश्य बदल जावे, स्वप्न द्रष्टा का ध्यान तो अखंड ही बना है । यदि द्रष्टा अखण्ड न होगा तो क्षण-क्षण के परिवर्तन का अनुभवी कोई न रहने से प्रतिभिज्ञा-ज्ञान न हो सकेगा । बिना द्रष्टा की अखण्डता के किसी अनुभव का स्मरण कालान्तर में नहीं हो सकेगा । इससे सिद्ध होता है कि द्रष्टा ध्यान, समाधि, कभी खंडित नहीं होती हैं ।

ध्यान उसी वस्तु का होता है जिसके प्रति प्रेम हो गया है । ध्यान करना नहीं पड़ता वह तो वर्षा कि तरह स्वयं होता है । फिर इसी प्रकार प्रेम करना नहीं पड़ता है वह तो स्वयं हो जाता है, जब किसीको उसमें सुख रूपता का निश्चय हो जाता है । सुख रूपता किसी के द्वारा किसी पदार्थ में जाग्रत नहीं होती, जब तक कि स्वयं को उसका लाभ, हानि ज्ञान न हो एवं ऐसा ज्ञान बिना विवेक के सम्भव नहीं होता है । ऐसा विवेक बिना सत्संग के

एवं ऐसा सत्संग बिना गुरु के प्राप्त नहीं हो सकता है । ऐसे सद्गुरु उन्हीं भक्तों को प्राप्त होते हैं जिनके जन्मों जन्मों के पुण्योदय हुए हैं

''**पुण्य पुंज बिन मिलहि न संता**'' – रामायण

''**बहूंना जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते**''

– गीता ७/१९

जिनके मल विक्षेप दोष पूर्व से कर्म एवं उपासना द्वारा निवृत्त हो चुके हैं ।

अपनी असंगता, साक्षी भाव का निश्चय हो गया तो ध्यान हो गया । फिर प्रवृत्ति भी निवृत्ति रूप, विक्षेप भी समाधि रूप, ग्रहण भी त्याग रूप होती है । इसके विपरीत अज्ञानी का त्याग भी ग्रहण रूप, समाधि भी विक्षेप रूप, निवृत्ति भी प्रवृत्ति रूप सिद्ध होती है । अतः ध्यान करें तो ऐसा करें कि मेरे अलावा यहाँ अन्य कोई नहीं है । केवल मैं ही सर्व रूपों में विद्यमान हूँ । ऐसी निष्ठा ही सच्चा ध्यान है ।

ध्यान आप उस बालक का नहीं कर सकेंगे जो ब्रध्या स्त्री ने पैदा ही नहीं किया है । भक्ति के मार्ग के साधक परमात्मा का ध्यान करने बैठते हैं किन्तु वह ध्यान ब्रध्या पुत्रवत् ही है और यह केवल नाम है, व्यक्ति नहीं । इस प्रकार परमात्मा शक्ति है, व्यक्ति नहीं । जिस परमात्मा का रूप, रंग, पौशाख, स्थान, कार्य जानते नहीं वह आयेगा भी कैसे एवं आप पहचानेंगे भी कैसे ? पूजा, सेवा, तप, तीर्थ, ध्यान, समाधि आदि साधनों में हजारों कल्पों तक समय व शक्ति लगावें किन्तु अपने जन्म–मरण के दुःखों के कारण मूल अज्ञान का नाश आत्म ज्ञान बिना नहीं कर सकेंगे ।

● ॐ ●

मन–बुद्धि का समर्पण

मय्यार्पित मनो बुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः

– गीता : १२/१४

प्रायः संत कहते हैं कि मन, बुद्धि को परमात्मा में समर्पित करो, पर सोचना यह है कि जो परमात्मा स्वयं मन, बुद्धि द्वारा उत्पन्न होता है, क्या वह परमात्मा का वास्तविक स्वरूप है ? क्या मन, बुद्धि उसके समर्पित हो सकते हैं, जो स्वयं मन, बुद्धि के समर्पण हो रहा है ? याद रखो ! मन, बुद्धि के आश्रित कल्पित इष्ट मूर्ति के प्रति मन, बुद्धि का समर्पण कभी नहीं हो सकता है । सभी शास्त्र भी यह घोषणा करते हैं कि मन, बुद्धि, वाणी इन्द्रिय में से कोई भी परमात्मा को दृश्य की तरह नहीं जान सकते हैं ।

''राम अतर्क्य बुद्धि मन वाणी''

– रामायण

भक्तों की मन, बुद्धि जब इष्ट का ध्यान चिन्तन करने को प्रस्तुत होती है तब बहुत प्रयास से उस इष्ट मूर्ति का जन्म होता है एवं वे मानसिक रूप से ध्यान में उपस्थित रहते हैं । मन, बुद्धि द्वारा अन्य विषय चिन्तन करने के क्षण में ही वह ध्यानस्थ मूर्ति विलीन हो जाती है । फिर भक्त के न चाहने पर वे स्वयं उपस्थित नहीं हो सकते । इस प्रकार बुद्धि की शरण में आ पड़े इष्ट को बुद्धि कैसे समर्पित कर सकते हैं ? कदापि नहीं । मन, बुद्धि तो मन से उत्पन्न इष्ट को समर्पण नहीं होती है किन्तु मन, बुद्धि के समर्पित वे इष्ट अवश्य हो जाते हैं ।

सुषुप्ति में मन मरणावस्था तुल्य मूर्च्छित–सा हो जाता है । तब मन, बुद्धि से उत्पन्न इष्ट भी अपने कारण मन के साथ अज्ञान में लीन हो जाते हैं ।

तब मन, बुद्धि के कार्य रूप इष्ट के शरण में मन, बुद्धि कैसे हो सकेंगे ? इस प्रकार न तो मन, बुद्धि के आश्रित को ही ब्रह्म कहा जा सकता है और न मन, बुद्धि का उनको समर्पण हो सकता है । अब यह प्रश्न उठता है कि ब्रह्म कौन है ? एवं मन, बुद्धि को उसे कैसे अर्पित करें ? केनोपनिषद का ऋषि कहता है जिसकी शक्ति का अंश पाकर ये इन्द्रियाँ अन्तःकरण और उनके विषय जाने जाते हैं, एवं ग्रहण होते हैं वह ज्ञान शक्ति मैं स्वयं ब्रह्म हूँ, और मेरी ही शरण में मन, बुद्धि हैं ।

परमात्मा को खोजना है तो तुम उसे वहाँ कभी नहीं खोज सकोगे, जो मन्दिर एवं मूर्ति मनुष्य द्वारा निर्मित हुई है । परमात्मा को खोजना है तो उस मन्दिर को खोजो, जो मन्दिर स्वयं परमात्मा ने बनाया है एवं परमात्मा उसी मन मन्दिर के हृदय गुफा में विराजित है अस्तु परमात्मा को देखना चाहते हो तो तुम उसे मन बुद्धि के साक्षी रूप में ही जान सकेगे जो तुम ही हो ।

ॐ

सर्व का त्याग कैसा ?

साधक प्रायः त्याग का अभिमान करते हैं कि हमने यह त्याग किया, वह त्याग किया । जब यहाँ सब कुछ परमात्मा का ही है उसमें त्याग का अहंकार करना अज्ञान मात्र ही है । जिसके द्वारा सर्व का ग्रहण होता है उस मनकृत अहंकार का त्याग जब तक नहीं किया जाता है तब तक सर्व का त्याग नहीं माना जाता है । जिन पदार्थों के त्याग का प्राणी अहंकार करता है वह सब पदार्थ वस्तु त्याग के अहंकार करने वाले के पूर्व ही थी । राज, कुटुम्ब, धन, देश, वेश, केश आदि का त्याग, यह कोई वास्तविक त्याग नहीं है; क्योंकि यह देश, प्रान्त पहले किसी का था और उनमें अहंकार करने वाला

व्यक्ति तो समाप्त हो जाता है । अब उत्तराधिकारी उसका अहंकार करने लग जाता है कि यह धन, मकानादि मेरा है । संन्यासी द्वारा आसन, कम्बल, माला, तुम्बी, कुटिया का त्याग भी सर्व का त्याग नहीं है । क्योंकि आसन कुश घास है, रुद्राक्ष, चन्दन, तुलसी आदि माला वृक्ष की है । कम्बल भेड़ के बालों का है । तुम्बी लता का फल है । कुटीया, आश्रम मिट्टी, वृक्ष, बांस, पत्थर तथा घास का जोड़ है । यह सब प्रकृति की वस्तुएँ पहले से ही थी इन पर मेरे पने का मिथ्या अहंकार किया एवं फिर इनका त्याग अहंकार करना मिथ्या दंभ मात्र है । बाग, बगीचे, कूप, लाठी यह सब वन की सम्पत्ति है । यह पहले से ही थी इनका त्याग भी सर्व का त्याग नहीं है, बर्तन मिट्टी एवं काष्ठ के हैं इनका त्याग भी सर्व का त्याग नहीं है ।

यह मनुष्य शरीर चौरासी लाख योनियों में सर्वश्रेष्ठ देव दुर्लभ योनि है एवं मुक्ति प्राप्त करने का खुला द्वार है ।

नर तन सम नहिं कवनेहु देही,
जीव चराचर याचत जेही ।
साधन धाम मोक्ष का द्वारा
पाई न जेहि परलोक संवारा ।
सो परत्र दुःख पावहिं, सिर धुनि धुनि पछिताहिं ।
कालहिं कर्महिं ईश्वरहिं, मिथ्या दोष लगाहिं ।।
जो न तरे भव सागर, नर समाज अस पाई ।
सो कृत निंदक मंद मति, आतम हन गति जाई ।।

जीव यह मनुष्य जीवन अपने मन कल्पित साधनों द्वारा कल्याण को प्राप्त होने वाला नहीं है अर्थात् जन्म-मरण का चक्र समाप्त होने वाला नहीं है । जन्म-मरण को देने वाला जो चित्त (मन) है, उसकी क्रियाओं में साक्षी भाव द्वारा जब तक कर्ता भोक्ता भाव का नाश नहीं किया जावेगा तब तक

सर्व का त्याग नहीं होगा एवं जब तक सर्व का त्याग नहीं होगा, तब तक संसार चक्र से छुटकारा भी नहीं होगा । यह मानव जीवन धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों का एक मात्र साधन स्थल है । इसको अनाधिकार चेष्टा द्वारा नष्ट कर दिया तो फिर यह अपने को अधम योनि में पहुँचाने का हेतु ही सिद्ध होगा । अतः देह के त्याग से भी सर्व का त्याग नहीं होता है । यह देह तो बहुत सरल निष्कपट सन्तोषी है, जब जैसा भोजन, स्थान विश्राम देते हो उसको स्वीकार करता है लेकिन अपनी तरफसे किसी प्रकार का आग्रह नहीं करता है । बोलो तो बोल लेता है, चलाओ तो चलता है, बिठाओ तो बैठ जाता है, नहीं तो चुप ही रहता है । माता-पिता के सहधर्म से उत्पन्न होने वाला यह अनित्य शरीर मैं नहीं हूँ न यह शरीर मेरा है । यह निश्चय करना चाहिये ।

● ॐ ●

चित्त का त्याग ही सर्व त्याग है

चित्त में से कर्ता-भोक्ता भाव का अहंकार करने से नाना प्रकार का संसार भोग तथा फल प्राप्त होता है । मन से ही जाग्रत, स्वप्न, राज व्यवहार, भोग,व्यापार होते रहते हैं । चित्त से ही अनुकूल पदार्थों में राग एवं प्रतिकूल पदार्थों में द्वेष होता है । मन (चित्त) में ही सुख तथा दुःख प्रतीत होता है । मन के कारण ही यह संसार परिवार, सम्बन्धी है । सुषुप्ति में मन नहीं होने से वहाँ किंचित् भी द्वैत द्वन्द्व नहीं है । अस्तु मन को दृश्य जानकर एवं प्रकृति के कर्म में से कर्तापन का अहंकार छोड़ जब जीव अपने साक्षी भाव में स्थित रहता है तभी पूर्ण आनन्द को प्राप्त होता है ।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।

अहंकार विमुढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ।।

– गीता ३/२७

संसार में जन्म–मृत्यु का कारण यह एक चित्त ही है । जब सद्गुरु की कृपा से जीव प्रकृति के कर्मों से कर्तापन के अहंकार का त्याग करता है तब संसृति के मूल (बीज) का नाश होकर जीव ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है । इसी कर्तापन के अहंकार का त्याग ही सर्व का त्याग है । जिसने इस अन्तःकरण की चारों वृत्तियों का त्याग किया है वही परमानन्द को प्राप्त होता है । जैसे खेत में एक बीज डालने से एक से अनेक होते हैं किन्तु आग्नि में बीजत्व शक्ति का दहन करने पर उस अन्न को उचित पृथ्वी, जल, पवन, प्रकाश, सार (खाद) आदि प्रकृति अनुकूल होने पर एक फल भी प्राप्त नहीं होता है । इसी प्रकार यह मन भी जगत् में जन्म–मरण का एक मात्र कर्ता है एवं जितना कर्म करता है तदनुसार फल पाता है, किन्तु ब्रह्म ज्ञानाग्नि में जब चित्त वृत्ति का अर्थात् अहंकर्ता भाव का दाह संस्कार हो जाता है । फिर केवल स्वयं द्रष्टा, साक्षी, अक्रिय आत्म भाव में बुद्धि (चित्त) की दृढ़ता हो जाती है तब यह जीव संसार में कर्म करते हुए भी पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होता । इस चित्त त्याग का नाम ही सर्व त्याग है । जिस ज्ञानी पुरुष ने देहादि संघात् से चित्त को हटा चेतन में ही चित्त को लगाकर सोऽहम्, शिवोऽम् भाव में निष्ठा, अहंकार किया है बस वही सदा ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है ।

जैसे आकाश में सब कुछ घटनाएँ घटित होती है किन्तु आकाश पर उन बिजली, चन्द्र, सूर्य, तारों, ग्रहों, आंधी, तूफान, बादल, वर्षा, शीत–उष्णादि का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है । इसी प्रकार चिदाकाश (आत्मा) के सहारे अन्तःकरण की अनन्त वृत्तियाँ चंचल एवं लय होती है किन्तु असंग आत्मा को उनके चंचलता–स्थिरता से कोई लाभ, हानि नहीं होती है । चित्त ही पुण्य–पाप, सुख–दुःख, स्वर्ग–नरक, कर्ता–भोक्ता, चंचल–शान्त, बन्ध–मोक्ष, ज्ञान–अज्ञान का आधार है । अस्तु चित्त में से अहं बुद्धि का त्याग कर

साक्षी चेतन आत्मा में ही अहं बुद्धि करना चाहिये । यह अहंकार का नाश ही समस्त दुःखों के मूल का नाशक एवं अखण्डानन्द की प्राप्ति साधन है ।

● ॐ ●

मनोनाश क्या है ?

मन में कर्तापन का अहंकार ही समस्त दुःख द्वन्द्व एवं बन्धन का कारण है एवं साक्षी, द्रष्टा, आत्म भाव ही समस्त दुःखों के नाश एवं परमानन्द प्राप्ति का एक मात्र सरल साधन है । यह चेतन साक्षी आत्मा ही जीव का अपना वास्तविक स्वरूप है ऐसा वेद मत है । जब जीव का अन्तःकरण में से अहंकार अर्थात् मैं भाव हट साक्षी में ही मैं पना स्थिर हो जावेगा तब वह जीवन मुक्ति के अखंडानन्द को प्राप्त करेगा । जो ज्ञानी पुरुष गुरु कृपा से इस चित्त धर्म में से अहंकार अर्थात् मैं भाव छोड़ पाता है वह बहुत भाग्यशाली है । अज्ञानी को चित्त को रोकना कठिन लगता है । नेत्र खोलने बंद करने में भले ही कुछ प्रयास मान लिया जावे किन्तु गुरु कृपा से चित्त को रोकने हेतु इतना भी प्रयास करना नहीं पड़ता है । अर्थात् बहुत सरल है वह तत्त्वज्ञानी सदा स्वभाव में जीवन यापन करता है ।

चेतन की स्पन्दन, फुरना, चंचलता जब जगत् के भोग पदार्थों के प्रति स्फुरित होती है, तब इसी का नाम मन या चित्त है । जब यह चंचलता देहादि संघात् के प्रति नहीं उठ केवल द्रष्टा साक्षी भाव रूप में चंचल है उसी क्षण चित्त एवं जगत् का नाश हो जाता है । जैसे समाधि एवं सुषुप्ति में चेतन की चंचलता जगत् आकार को नहीं धारती है इसलिये उस काल में चित्त के भी अभाव देखा जाता है एवं जाग्रत काल में चित्त का उदय होने से जगत् की भी प्रतीति होने लगती है । वासना के नष्ट हुए बिना यह चित्त बारम्बार जन्म-

मरण की प्राप्ति कराता रहेगा । जैसे वृक्ष की डाल काटने से वह नूतन शाखा, पत्ते, फूल, फल को उत्पन्न करता है किन्तु उस वृक्ष को जड़ से उखाड़ दिया जावे तो वह पुनः उत्पन्न नहीं हो पाता है । इसी प्रकार जप, तप, पूजा, पाठ, मंत्र, माला, कीर्तन, भजन, यज्ञ, दान, तीर्थ आदि साधन करने से चित्त का नाश नहीं बल्कि और जन्म-जन्मान्तरों का हेतु होता है । किन्तु आत्मज्ञान के द्वारा चित्त का समूल नाश हो जाने से यह अन्य जन्म को प्रदान कराने में असमर्थ हो जाता है ।

आत्म ज्ञान द्वारा देह भाव रूप मलिन वासना का त्याग कर आत्म धारणा करने से जीव अहंता-ममता से छूट ब्रह्म रूप हो जाता है ।

प्रत्यक्ष इस मलिन देह का मूल पिता है एवं पिता का मूल पितामह है । इसी प्रकार समस्त का मूल मात्र परम ब्रह्म है उससे भिन्न अन्य कुछ नहीं है । क्योंकि कार्य की कभी कारण से भिन्न सत्ता नहीं होती । अस्तु मनादि समस्त कार्य दृश्य का एक मात्र कारण द्रष्टा ब्रह्म ही है । वह ब्रह्म मैं हूँ ।

● ॐ ●

आत्म विचार

जन्म मरण के दुःख बन्धन से मुक्त होने के लिये आत्म विचार ही एकमात्र सरल उपाय है । अन्य कर्म, उपासना, योगादि तो ज्ञानोदय में सहायक साधन हैं । अज्ञान का नाश एक मात्र आत्मज्ञान से ही होगा । मुमुक्षु को आत्म विचार से हट पुनः कर्म जाल में नहीं फंसना चाहिये ।

'जिज्ञासुरपि योगस्य शब्द ब्रह्माति वर्तते'

– गीता : ६/४४

गीता में तो आत्मज्ञान का जिज्ञासु भी शब्द ब्रह्म की आज्ञा का उलघंन

करके बर्तता है । अर्थात् जिज्ञासु पर भी वेद के कर्मकांड भाग की आज्ञा नहीं है । यदि तत्त्वज्ञानी अपने में कर्म उपासना करने की कर्तव्य मानता है तो वह आत्मवित् नहीं है, श्रुति स्मृति उसके लिये कहती है –

''तस्य कार्यं न विद्यते''

– गीता ३/१७

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृत कृतस्य योगीनः
नैवास्ति किंचित् कर्तव्यमस्ति चेत न स तत्त्ववित्

– जाबाल. उप

वेद में जितने कर्मकाण्ड की कर्तव्यता है वह कर्म दण्ड तो मिथ्या देह, आश्रम, जाति अभिमानियों के लिये है । अज्ञानी मूर्खों के लिये जो विधि-निषेध रूप वेद, श्रुति, है वह तत्त्व ज्ञानियों के लिये नहीं है जैसे रामायण में प्रश्न रूप में कहा है –

''कर्म की होहिं स्वरूपहि चीन्हें ?''

जिस मुमुक्षु ने सद्गुरु कृपा से जान लिया है कि मुझ ब्रह्म के अतिरिक्त यहाँ किंचित् भी अन्य नहीं है तब वह ज्ञानी पुरुष अपने को कर्ता एवं ईश्वर को फल दाता मान कभी भी कर्म नहीं कर सकता।

अतः मुमुक्षु को बारम्बार आत्म विचार ही करना कर्तव्य है । आत्म जिज्ञासा होना ही मन शुद्धि का प्रमाण है । बिना चित्त शुद्धि हुए किसी मन में आत्म जिज्ञासा उदय नहीं हो सकती ।

जो गुरु जिज्ञासु को आत्म विचार से हटाकर पुनः कर्म-उपासना की ओर प्रेरित करते हैं वह उनके अपने मन का मैल ही हैं वे संत रूप धारी तो हैं किन्तु उनका अपना ही अभी चित्त शुद्ध नहीं हुआ है । वे अपनी मंद दृष्टि एवं स्थिति अनुरूप ही श्रोताओं को उपदेश कर सत्य ज्ञान मार्ग से पथ भ्रष्ट

करते हैं । ऐसे नामधारी संत वेद शास्त्र के तात्पर्य ''***ज्ञाना देव तु कैवल्यम्***'' अर्थात् ज्ञान द्वारा ही मुक्ति है इस ज्ञान से हीन पथभ्रष्ट हैं । उनका कहना मानने से जिज्ञासु आरुढ़ पतित हो जावेगा । अपने मन की दशा को देख उपदेश करने वाले नामधारी महात्मा की बात पर ध्यान न दें और अपने सर्वोत्तम ब्रह्म विचार साधन में संशय भी न करें।

प्रायः साधक मन के सम्बन्ध में विशेष चिन्तित रहा करते हैं । वे सोचते हैं कि ज्ञान चर्चा तो सुन ली, किन्तु वह हमारे आचरण में तो नहीं आई है । जो ऐसा सोचते हैं वे अदृढ़ ज्ञानी मन के धर्मों को अपना धर्म मानकर असत्, विकारी मन को सत्ता दे रहे हैं एवं अपने नित्य, शुद्ध, बुद्ध, द्रष्टा, स्वरूप को भूला रहे हैं । मन को वश में करना ही उसे चंचल बनाना है । मन को वश में करना याने उसके बन्धन से मुक्त होना ही पुरुषार्थ है । मैं मन का द्रष्टा हूँ । दृश्य मन मैं नहीं हूँ, यह निश्चय ही मन से मुक्ति दिलाता है । मन का स्वभाव ही चंचल एवं विकारी है । यदि उसमें किसी संसारी भावना, वृत्ति, विचारों के उदय होने पर आप उसे शान्त कर अपने को शान्त एवं पवित्र मानते हैं तो आपका ऐसा सोचना भ्रम मात्र है । आप सदैव शांत एवं पवित्र है, मन सदैव अशांत एवं अपवित्र ही है । विकारी मन के धर्म को अपने में आरोपित कर उसे दूर करने का साधन करना ही अज्ञान है । असत् मन में विकारों का होना जल में उठने वाली लहरों की तरह सहज स्वभाव ही है । मिथ्या विकारी मन कभी निर्विकार नहीं हो सकता एवं निर्विकार सत्य आत्मा कभी विकारी नहीं हो सकता ।

विचारो ! कि आप मन हैं या मन की दशा को जानने वाले द्रष्टा आत्मा हैं ? विकार तो आते-जाते हैं और आप अचल ही रहते हैं । आने-जाने वाले शीतोष्ण, मानापमान, जन्म-मरणादि धर्मों प्रकृति के साथ अहंकार किया तो ये प्रकृति के धर्म अहंकारी व्यक्ति को बांध सुख-दुःख देने वाले ही

होंगे । याद रखें ! अपना स्वरूप नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तानन्द है । मन के साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है । मन के साथ मेरे पन का जो सम्बन्ध जोड़ रखा है, उसे ही बस तोड़ दो ।

अपने व्यष्टि अहंकार को परमात्मा के साथ मिलाकर ''अहं आत्मा ब्रह्म'', ''अहं ब्रह्मास्मि'', ''शिवोऽहम्'', ''सोऽहम्'' आदि महावाक्यों पर विश्वास कर अनुभव करो । असत्, अशुद्ध, शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मनादि से मैं मेरा पन छोड़ते ही आप अपने को नित्य, शुद्ध, मुक्तानन्द स्वरूप में स्थित हुआ पावेंगे ।

मन को शुद्ध करना इसी प्रकार का व्यर्थ कार्य है, जैसे मैल को मैल से या कोयले को जल से शुद्ध करने का प्रयास करें ।

''**छूटहिं मल कि मलहि धोये ?**'' – रामायण

मन को शुद्ध करने की चेष्टा में ही आप नित्य परमात्मा से अभिन्न होते हुए भी अपने को पृथक् अशुद्ध, अपवित्र, अनुभव करने लगते हैं । वृक्ष के मूल में पानी सिंचन करने से जैसे सम्पूर्ण वृक्ष तृप्त हो जाता है, इसी प्रकार अपने को परमात्मा से अभिन्न जानते ही देह, प्राण, इन्द्रिय, मनादि समस्त शुद्ध हो जाते हैं । परमात्मा के साथ ''**सोऽहम्**'' भावना से जीव की जिस प्रकार शुद्धि होती है उतनी अन्य किसी साधन से नहीं हो पाती है । अतः तीनों शरीर, तीनों अवस्था तथा पंचकोषों से अपना अहकंार रूप सम्बन्ध तोड़ना ही मन को वश में करना एवं मुक्ति प्राप्त करना है । क्योंकि दृश्य प्रकृति के धर्म में अहंकार करने से अहकंारी जीव को जन्म–मरण का बन्धन होता है ।

मन को शुद्ध करने से वह न तो शुद्ध ही होगा न शान्त ही होगा । यदि मन साधन द्वारा शान्त हो गया तो साधन से छूटजाने से फिर कालान्तर में अशान्त, अपवित्र हो जावेगा । मन से मैं–मेरा पन का सम्बन्ध दूर करते ही

वह अत्यन्त शीघ्र शुद्ध हो जाता है । यदि आपको विश्वास है कि जप, तप, भजन, ध्यानादि से मन शुद्ध हो सकता है तो वह भी करके देख लो । मैं साधन करने को मना नहीं करता हूँ किन्तु असत् प्रकृति की क्रियाएँ उनके स्वभावानुसार हो रही है । और हम उन क्रियाओं में अपने को मिलाकर सुखी–दुःखी होते रहते हैं । जिसे आप देखते हैं, जानते हैं क्या वह आप हो सकते हैं ? सामने गधा, कुत्ता देखा तो क्या आप अपने को गधा, कुत्ता मानते हैं ? सपने में अपने को चोरी, हत्या, बलात्कार करते देखा तो क्या जाग्रत में अपने पर चोर, हत्यारा, बलात्कारी होने का आरोप करते हैं ? जानने वाला, जानने में आने वाली वृत्ति, वस्तु तथा व्यक्ति से पृथक् ही होता है । इसी प्रकार इन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार में जो विकार दिखाई पड़ता है, क्या वह विकार देखने वाले आप साक्षी आत्मा विकारी हो सकते हैं ? कदापि नहीं ।

शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार ये सब प्रकृति का कार्य होने से विकारी नाशवान एवं बदलने वाले हैं लेकिन आप इनकी बदलती हुई अवस्थाओं को अपना मान दुःखी होते हैं । अपने आप में स्थित रहना ही समाधि या स्वस्थ होना है । ''परधर्म भयावह'' अन्य के धर्मों में मैं–मेरा करना ही जन्म–मरण भय को प्रदान कराता है । ''स्व'' कभी विकारी नहीं होता है तथा 'पर' अन्तःकरण कभी निर्विकारी नहीं होता । आप विकारी अन्तःकरण के साथ सम्बन्ध जोड़कर व्यर्थ अपने को विकारी मान दुःखी होते हैं । आप प्रत्येक क्रिया, अवस्था, वृत्ति, विचार, संस्कारों से पृथक् उनके द्रष्टा मात्र हैं । परिवर्तन होना दृश्य प्रकृति के धर्म हैं । द्रष्टा आत्मा का कोई गुण, धर्म, कर्म नहीं है । आत्मा केवल सच्चिदानन्द स्वभावी है । मन को रोकने के लिये चेष्टा करना अज्ञान ही है । वह रुकेगा भी नहीं और आवश्यक भी नहीं है । मन को न रोकना है न कहीं जोड़ना है, बल्कि उसे ज्योंका त्यों छोड़ आपको उसके साक्षी ही बने रहना है ।

यदि मन को परमात्मा में जोड़ने की चेष्टा करोगे या मन से परमात्मा का चिन्तन करोगे, तो फिर आप अपनी स्थिति से च्युत् हो गये, आरुढ़ पतित हो गये, नीचे गिर गये । जब अपने से परमात्मा को अलग मानोगे तभी उनका चिन्तन, ध्यान या उनसे किसी भाव का सम्बन्ध हो सकेगा । अतः मन की चिन्ता छोड़ अपने द्रष्टा स्वरूप में ही स्थित रहो । मन के चंचल विकारी होने से आपका क्या बिगड़ने वाला है ? आप तो हर अवस्था से असंग साक्षी ज्यों के त्यों ही बने रहते हैं । मन ठीक होने वाला भी नहीं ।

एकान्त में बैठ प्रायः लोग मन को चंचल बना भजन तो संसार का ही करते हैं किन्तु वे झूठ कहते हैं कि हम मन को शांत कर भगवान का भजन कर रहे हैं । लोग वर्षों मन को रोकने की चेष्टा करते हैं और परमात्मा में लगाना भी चाहते हैं किन्तु उनके चाहने से उनका मन रुकता नहीं कि परमात्मा में लगता भी नहीं । सुख को स्वीकारने वाला दुःख से, शान्ति को चाहने वाला अशान्ति से, लाभ को चाहनेवाला हानि से, सम्मान को चाहने वाला अपमान से तथा जन्म को चाहने वाला मृत्यु से स्वतः जुड़ ही जाता है । क्योंकि समस्त द्वन्द्व एक ही सिक्के के दो पहलू की तरह अभिन्न है उन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता है । अस्तुः आप दोनों हिस्सों, अवस्थाओं से ही राजी हो जावें । आप यदि शान्ति चाहते हैं तो अशान्ति वाला हिस्सा फिर किसके पास जावेगा ? या तो आप दोनों को स्वीकार कर लें या दोनों को अस्वीकार कर दें, तभी आप परम शान्ति को प्राप्त हो सकेंगे, अन्यथा नहीं ।

याद रखो ! मन को वश में करने की अपेक्षा उससे उदासीन हो जाना ही मन को वश में करने का साधन है । मन से मैं-मेरा भाव समाप्त करना ही मन को वश में करने का सबसे सरल उपाय है । अतः मन की दशा देख तनिक भी चिन्तित न होवें वह जैसा होता है उसे वैसे देखते रहें ।

● ॐ ●

मन वशीकरण मन्त्र

प्रायः साधक, भक्त, योगी, भोगी तथा रोगी मन की शिकायत करते रहते हैं एवं उसके वशीकरण का साधन संत, महात्मा, सद्गुरु एवं शास्त्र से पूछकर अभ्यास करते रहते हैं, किन्तु उनमें सफलता के स्थान पर विफलता ही प्राप्त होती है एवं स्थिरता के स्थान पर चंचलता ही बढ़ती है ।

मन को वश करने के स्थान पर चंचलता पूर्वापेक्षा अधिक क्यों होती है इस बात का मनोविज्ञान जानेंगे तो कारण स्पष्ट हो जावेगा कि मन को वश में करने के साधन हेतु प्रवृत्ति भी तो उसी मन को करना होगी जो पूर्व में ही प्रवृत्ति से परेशान था । मन तो एक है जो चंचल है उसे ही शान्त होने के लिये साधन करना पड़ता है तो वह शान्त कहाँ हो सकेगा ? उसे तो अब और अधिक कार्य कुशलता को प्राप्त होना पड़ेगा । क्योंकि चंचल मन को रोकने हेतु कोई दूसरा रेडीमेड मन बाजार से खरीदा नहीं जा सकेगा, जो चंचल को शान्त करने का साधन करेगा एवं शान्त हो जाने पर उसे फेंक दिया जावेगा । जैसे पैर में लगे कांटे को निकालने हेतु जंगल से अन्य मजबूत काँटा खोज प्रथम चुभे कांटे को निकाल दूसरे काँटे को भी फेंक दिया जाता है । किन्तु मन कंटक से निष्कंटक होने के लिये ऐसा कोई सहयोगी अन्य मन तो बाजार में मिल नहीं सकेगा जिसके द्वारा प्रथम मन की चंचलता को मिटाकर वह स्वयं भी चला जावे ।

मन की चंचलता को चंचल मन से निवृत्त करना ऐसा ही कार्य है, जैसे रात्रि को नगर में पहरा देने वाला पोलिस स्वयं चोरी कर स्वयं ही उस चोर को ढूँढने निकल पड़े तो भला क्या वह उसे पकड़ कर ला सकेगा ? समझ लें कि आपका मन १०० अंश है उसमें से ७५ अंश चंचल है एवं २५ अंश शान्त हैं । आप किसी गुरु से अपने मन का पूरा १०० अंश शान्त करने हेतु

साधन जानने गये तब उस गुरु ने जो साधन बतलाया उसमें २५ अंश जो शान्त था उसे भी अब क्रियाशील होना पड़ेगा । अब आप विचारें ! कि वह मन पहले की अपेक्षा शान्त हुआ पाया जायेगा या मन का पूरा १०० अंश ही उपयोग में लग जाने से पहले की अपेक्षा साधन द्वारा अधिक क्रियाशील ही पाया जायेगा ?

● ॐ ●

मन भूत से कैसे बचें ?

जिला धार नगर के सागोर ग्राम में प्रति बुधवार बाजार लगता है जिसमें विभिन्न नगरों के व्यापारी अपना पशु, पक्षी, कपड़ा, मिठाई, बर्तन, फर्नीचर, श्रृंगार साधन, दैनिक जीवन के उपयोगी सामान, साग भाजी, जादूगर, सर्कस, सिनेमा, नाटक आदि आते रहते हैं । जिन्हें खरीदने, देखने, बेचने हेतु विभिन्न ग्रामों के व्यापारी एवं ग्राहक भी जमा होते हैं । उस नगर में जगन्नाथजी खंडेलवाल नामक एक सेठजी रहते थे । वे अपना व्यापार कार्य समाप्त कर संध्या के समय बाजार उठने के समय, घरेलू साग-भाजी, फलादि खरीदने जाया करते थे । सामान खरीदते, देखते-देखते वे बाजार के अन्तिम छोर पर जा पहुँचे तो वहाँ एक व्यक्ति एक बक्से पर कपड़ा ढक बैठा था और आवाज दे रहा था कि ''आईये ! आईये ! जरूरत मंदों हर आवश्यकता की पूर्ति बिना समय एवं शक्ति के ।''

सेठ जगन्नाथजी ने पूछा - ''भाई तुम्हारे पास क्या है ?'' उसने कहा -''जो किसी के पास नहीं वह सामान मेरे पास है ।'' सेठजी ने पूछा - यह क्या काम का है । बेचने वाले ने कहा जो काम कोई न करे वह यह अकेला ही तत्काल कर देता है । सेठजी ने पूछा- फिर इसे आप क्यों बेच रहे हैं ?

उत्तर मिला मैं इसे आहार नहीं दे पाता हूँ और इसका आहार निरन्तर कार्य करना है । सेठजी ने पूछा – इसको मैं खरीदना चाहता हूँ मेरे पास काम बहुत है किन्तु करने वाले मजदूर मिलने पर भी कार्य पूरा नहीं हो पाता है । बेचने वाले ने कहा तो फिर आप इसे खरीदलें । सेठजी ने पूछा – कि भाई इसको कितने में बेचते हो ? उत्तर मिला ३ लाख । सेठजी ने आश्चर्य में हो पूछा तीन लाख ! यदि यह कार्य न करे, मेरे काम न आवे तो ? बेचने वाले ने कहा आपका रुपया वापस । सेठजी ने ३ लाख में वह बाक्स खरीद लिया व पूछा भाई अब तो बताओ इसमें क्या है ? बेचने वाले तान्त्रिक ने कहा – इसमें भूत है । बस काम बताओ यह करने को प्रस्तुत है, काम नहीं होने से यह मालिक को खाने के लिये प्रस्तुत हो जाता है । सेठजी ने कहा कोई चिन्ता नही अब मुझे दो मैं घर ले जाता हूँ एवं काम सौंप देता हूँ । बक्से को सेठजी ने जैसे उठाया उसी समय अन्दर से आवाज आई, सेठजी ! नमस्कार सेवक हाजिर है, काम बतलाईंये, अन्यथा मुझे जोर से भूख लग रही है मैं आप को ही अपना भोजन बनाता हूँ । सेठजी ने उसे कहा– घर ले चलो फिर काम बतलाता हूँ ।

भूत सेठजी को उसी क्षण घर में उपस्थित कर बोला काम बतलाईये मुझे भूख लग रही है । सेठजी ने सोचा यह तो अच्छी सिद्धि प्राप्त हो गई, लोग भूत सिद्धि हेतु नाना प्रकार के तान्त्रिक, साधन, बली, श्मशानवास, अघोर कर्म करते हैं, मल, मुत्र, मांस भक्षण करते हैं फिर भी वे इसे वश में नहीं कर पाते हैं एवं साधन करने मे भी बहुत कष्ट होता है । अन्त में या तो वे डर कर पागल हो जाते हैं या मृत्यु तक को भी प्राप्त हो जाते हैं । सेठजी को मनमें अपार आनन्द उत्साह भर गया एवं भूत को अपने समस्त मन वांच्छित कार्यों को बतला दिया जो हजारों व्यक्तियों द्वारा हजारों वर्षों में भी समाप्त न हो सके । भूत आज्ञा पाकर अदृश्य हो गया इधर सेठजी भोजन के थाल पर बैठे ही थे कि भूत समस्त कार्य कर वापस आकर कहने लगा काम हेतु नूतन

आदेश दें मुझे जोर से भूख लगी है । सेठजी ने कहा अरे ! पहले उन कार्यों को तो कर ले जो बतलाये हैं, फिर नूतन कार्य हेतु उपस्थित होना । भूत ने कहा वह सब कार्यों का आप निरिक्षण कर लीजिये, त्रुटि हो तो बतलाईयेगा । सेठजी ने कहा देश-विदेश की सभी कार्यों को हम अभी देखना चाहते हैं । भूत ने सेठजी को अपने साथ वायु रूप में बिजली की गति १,८६,००० माईल् प्रति सेकिंड से भी तेज गति से सब लोक व देश का अवलोकन करा दूसरे ही सेकंड घर में उपस्थित कर दिया । सेठजी भूत की वायु से तीव्र गति एवं कार्य क्षमता देख विस्मित रह गये एवं उसे काम बताने को काम ढूँढने लगे । जब काम नहीं निकाल पाये तब सेठजी ने सोचा अबतो इस भूत को किसी उपाय से नष्ट कर दिया जाय तभी मुझे शान्ति मिलेगी अन्यथा यह मुझे खा जावेगा और मैं इसके भय के कारण रात्रि सुख की नींद भी नहीं ले सकूँगा ।

सेठजी ने अपने नगर के एक बूढ़े अनुभवी विद्वान प्यारेलाल जैसवाल से यह दुःख कह सुनाया । उस अनुभवी वयोवृद्ध ने बतलाया कि तुम उसे नष्ट न करो यह तो बहुत कामका है एवं कठिन पुरुषार्थ से सिद्ध होता है । सेठजी ने कहा पर उसे काम में कैसे फंसाया जावे ? मेरे पास इसे देने को अब कोई शेष कार्य नहीं है । तब अनुभवी ने कहा तुम इसे जंगल से एक मोटा मजबूत लंबा बांस काट मंगा आंगन में गड़वा दो एवं इसे चढ़-उतर करने का आदेश दे देना । यह उस काम से विश्राम कभी नहीं पावेगा एवं आपके विश्राम में बाधा नहीं डाल सकेगा । सेठजी अपने सामने रहने वाले उन विद्वान् द्वारा यह अद्भुत एवं अति छोटा काम भूत को बताकर निश्चिन्त एवं प्रसन्न हो सुखी हो गये ।

यहाँ इस द्रष्टान्त का प्रयोजन चंचल मन भूत को वश में करने हेतु है । मन को काम चाहिये अन्यथा यह परेशान करता है । इसे हठ योग साधन या

प्राणायाम, समाधि आदि साधन द्वारा नष्ट करने का प्रयास न करें बल्कि इसे एक निश्चित कार्य में लगा दिया जावे तो यह आपकी बुद्धि को बारम्बार दुःखी, अशान्त नहीं कर सकेगा । अस्तु इस मन भूत को श्वाँस स्तम्भ पर चढ़-उतरने के साधन में जोड़ दें एवं आदेश दें कि इस चंचल प्राण का पीछा करो एवं यह जो ''सो'' ''हम्'' शब्द उच्चारण कर रहा है इसे सुनो इस प्रकार इस मन भूत को वशीभूत करने हेतु श्वाँस-प्रश्वाँस के साथ होने वाले अजपा मंत्र, अनाहत नाद के सुनने में लगा देने से मन का बाहर विषय जगत् में भटकना बंद हो जावेगा । अब इसके अर्थों का विचार करे तो ज्ञान होगा कि ''सो'' अर्थात् परमात्मा एवं ''हम्'' अर्थात् आत्मा । तात्पर्य यह है कि जो परमात्मा है वही मैं इस शरीर में आत्मा हूँ और यह शरीर जो दृश्य रूप में भासरहा है यह मैं नहीं हूँ । जिस शरीर को देख लोग प्यार या नफरत करते हैं, सम्मान या अपमान करते हैं यह अनित्य, विकारी, क्षण भंगुर, नाशवान शरीर मैं नहीं हूँ । जिसे कोई पुत्र या पुत्री, पत्नी या पति, माता या पिता, भाई या बहन कहते हैं यह शरीर मैं नहीं हूँ । जिसे हिन्दु, सिक्ख, मुसलमान, ईसाई, जैन, बौद्ध, मारवाड़ी, गुजराती, पंजाबी, सिन्धी, उड़िया, बिहारी, बंगाली कहते हैं, यह शरीर मैं नहीं हूँ । जिसे बाह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शुद्र, स्त्री या पुरुष, बालक या किशोर, युवा या प्रौढ़ आदि आकार में दिखाई दे रहा है, यह शरीर मैं नहीं हूँ । जो रोगी या निरोग, लम्बा या नाटा, मोटा या दुर्बल आकार वाला शरीर है यह मैं नहीं हूँ । जो यह ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रस्थी या संन्यासी, गुरु या शिष्य उपाधिवाला शरीर है यह मैं नहीं हूँ ।

● ॐ ●

मैं कौन हूँ ?

संसार का प्रत्येक प्राणी अनादिकाल से दुःखों से पूर्ण छुटकारा एवं परमानन्द प्राप्ति हेतु प्रयत्नशील है । जीव अपने परमानन्द स्वरूप के अज्ञान के कारण ही अनुकूल दृश्य पदार्थों की प्राप्ति एवं प्रतिकूल पदार्थों के त्याग में आनन्दता का अनुभव करता है । कोई जीव मृत्यु नहीं चाहता क्योंकि सत अविनाशी स्वभाव है । जड़ता, मूढ़ता, मूर्खता, अविज्ञता, अविवेक भी किसी जीव को प्रिय नहीं क्योंकि वह चित स्वभावी, ज्ञान स्वभावी है तथा किसी भी जीव को किंचित् भी दुःख में प्रियता नहीं क्योंकि आनन्द स्वभावी है । इस प्रकार प्रत्येक जीव का अपना सच्चिदानन्द स्वभाव होने से असत्, जड़ एवं दुःख में प्रियता नहीं है । जीव जिस सुख हेतु पागल की तरह बाहर भटक रहा है वह सुख उसको सुषुप्ति अवस्था में प्रतिरात्रि अनुभव में आता है, जिसका निद्रा से हटने पर ''मैं सुख से सोया'' इस रूप में स्मरण होता है । अस्तु जो जीव का अपना ही स्वभाव है उसे पाने हेतु स्वरूप को जान लेना ही परम कर्तव्य है । उसके लिये मैं कौन हूँ ? यह आत्म विचार ही मुख्य साधन है । जैसे अंधकार में पड़ी रस्सी को जानलेने पर सर्प भ्रान्ति निवृत्त हो जाती है । इसी प्रकार सर्वाधिष्ठान आत्मा के ज्ञान हो जाने पर समस्त दृश्य जगत्, प्रपंच से सत्यबुद्धि निवृत्त हो जाती है ।

● ॐ ●

''निर्वाणषट्कम्''

शंकराचार्य

मनोबुद्धियहंकार चित्तानि नाहं, न च श्रोत्र जिह्वे न च घ्राण नेत्रे ।
न च व्योमः भूमि र्न तेजो न वायुः, चिदानन्द रूपः
शिवोऽहं-शिवोऽहम् ।।

न च प्राण संज्ञो न वै पंच वायुः, न वा सप्तधातु र्न वा पंचकोशाः ।

न वाक्यपाणि पादं न चोपस्थ पायुः चिदानन्द रूपः

शिवोऽहं–शिवोऽहम् ।।

न मे द्वेष रागौ न मे लोभ मोहोः मदो नैव मे नैव मात्सर्य भावः ।
न धर्मो न चार्थो न कामो न मोक्षः चिदानन्द रूपः

शिवोऽहं–शिवोऽहम् ।।

न पुण्यं न पापं न सोख्यं न दुःखं, न मंत्रो न तीर्थ न वेदा न यज्ञा ।
अहं भोजनं नैव भोज्यं न भोक्ताः चिदानन्द रूपः

शिवोऽहं–शिवोऽहम् ।।

नाहं मनुष्यो न च देव यक्षो, न ब्राह्मण्य क्षत्रिय न वैश्य शुद्रः ।
नाहं ब्रह्मचारी न गृही न वनस्थो, भिक्षुर्न चाहं

शिवोऽहं–शिवोऽहम् ।।

न मे मृत्यु शंका न मे जाति भेदः, पिता नैव मे नैव माता च जन्मः ।
न बन्धुर्न मित्रं गुरुर्नैव शिष्यः, चिदानन्द रूपः

शिवोऽहं–शिवोऽहम् ।।

अहं निर्विकल्पं निराकार रूपं, विभूव्याप्य सर्वत्र सर्वेन्द्रियाणाम् ।
सदा मे समत्वं न बन्धं न मुक्तिः, चिदानन्द रूपः

शिवोऽहं–शिवोऽहम् ।।

● ॐ ●

चिदानन्द रूपः शिवोऽहम्

मैं न तो मनुष्य, देव, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर, राक्षस, भूत, प्रेत, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र, ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रस्थी तथा संन्यासी हूँ । न मैं आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी यह पंच महाभूत हूँ

। न में रस, रक्त, मांस, मज्जा, भेद अस्थि और शुक्रादि सप्त धातु से निर्मित यह २५ तत्त्वोंवाला अन्नमय स्थूल शरीर हूँ । न मैं अपंचिकृत भूतों के १७ या १९ तत्त्वोंवाला सूक्ष्म शरीर हूँ । न मैं सम्मिलित सत्त्वगुणों से बना मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार रूप अन्तःकरण हूँ । न मैं अपंचिकृत भूतों के स्वतन्त्र सत्त्वगुणों से निर्मित श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा तथा घ्राण यह पंच ज्ञानेन्द्रियाँ हूँ । न मैं भूतों के तमोगुण का कार्य रूप, शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध विषय ही हूँ । न मैं अपंचिकृत भूतों के मिश्रित रजोगुण के कार्य रूप पंच वायु अर्थात् प्राण हूँ न मैं स्वतन्त्र रजोगुण से उत्पन्न वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ, तथा गुदा रूप पंच कर्मेन्द्रिय हूँ और न मैं इन इन्द्रियों के कार्य रूप वाक, ग्रहण–त्याग, दौड़ना, मूत्र–मैथुन तथा मल त्याग रूप पंच विषय ही हूँ ।

मैं न तो संकल्प–विकल्प करने वाला मन हूँ । न मैं निश्चय वृत्ति रूप बुद्धि हूँ । न मैं चिन्तन करने वाली चित्त वृत्ति हूँ और न मैं अभिमान करने वाली अहं वृत्ति हूँ । न मैं राग–द्वेष, काम–क्रोध, लोभ–मोह, मद, मात्सर्य, डाह, ईर्ष्या रूप रजोगुण की वृत्तिरूप हूँ । न मैं दया, प्रेम, क्षमा, धैर्य, सन्तोष, प्रसन्नता रूप सत्वगुण की वृत्ति हूँ । न मैं आलस्य, निद्रा, प्रमाद, मूढ़ता रूप मन की तमो प्रधान वृत्ति हूँ ।

न मैं शरीर हूँ, न शरीर मेरा है । यह शरीर दृश्य है, मैं इस शरीर का द्रष्टा हूँ । आप निश्चय कीजिये कि यह शरीर पंच महाभूतों का कार्य मुक्ति के द्वार रूप है । यह जीव को मुक्ति पाने हेतु माया द्वारा कुछ समयके लिये मिला है । मिली हुई वस्तु अपनी नहीं होती है । जो अपना है वह जन्म से साथ होता है, तथा मृत्यु में भी साथ रहता है । जो वस्तु जन्म के बाद में मिली है वह मृत्यु पर यहाँ ही छूट जाती है । जो पदार्थ, शरीर मिला है वह मेरा नहीं तब वह मैं कैसे हो सकूँगा ? जो अपने से पृथक् वस्तु होती है उसे मेरा कह कर प्रमाणित किया जाती है । जैसे घर मेरा, पुत्र मेरा, जूता मेरा, कुत्ता मेरा, हाथ मेरा, आंख मेरी, पेट मेरा, पैर मेरा, शरीर मेरा, मन मेरा, बुद्धि मेरी,

चित्त मेरा, अहंकार मेरा । इस प्रकार ''मेरा'' रूप से जो जाना जाता है वह क्षेत्र, जड़ एवं विनाशी है तथा ''यह रूप क्षेत्र'' को जानने वाला 'क्षेत्रज्ञ' चेतन जीवात्मा ''यह क्षेत्र' से पृथक् है । एक जानने वाला है तथा एक जानने में आने वाली वस्तु है । जानने वाला, जानने में आने वाली वस्तु से पृथक् ही होता है और वह सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, चैतन्यात्मा मैं हूँ ।

जन्म, बाल, किशोर, युवा, प्रौढ़ तथा मृत्यु यह विकार देह के हैं किन्तु मैं तो जन्म से मृत्यु तक एकरस ही हूँ । जीव बाल्यावस्था का अनुभव करके ही युवा या वृद्धावस्था में स्मरण कर कहता है कि मैंने बचपन में क्या खेल खेला एवं जवानी में स्त्री के साथ क्या भोग किया ? किन्तु अब न बचपन है न जवानी न प्रौढ़ावस्था है । उन सभी अवस्थाओं का रूपान्तर हो गया फिर भी उन अवस्थाओं के बदलने पर उन अवस्थाओं का अनुभव कर्त्ता मैं आत्मा, अचल, निर्विकार, एक रस ज्यों का त्यों नित्य विद्यमान हूँ ।

मनुष्य जीवन में धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष इन चार पुरुषार्थों की प्रधानता है । जब मैं मनुष्य ही नहीं हूँ तब इन चार पुरुषार्थों से भी मेरा कोई प्रयोजन नहीं है । और जब मैं मनुष्य ही नहीं तो शुभाशुभ कर्मों का कर्ता नहीं और जब मैं शुभाशुभ कर्मों का कर्ता नहीं तो पुण्य-पाप भी मुझ में नहीं और जब पाप नहीं तो उनका फल सुख-दुःख भी मुझमें नहीं । कभी पुण्य-पाप, सुख-दुःख, कर्ता-भोक्ता, ज्ञान-अज्ञान, चंचल-शान्त, स्वर्ग-नरक, बंध-मोक्ष यह सब धर्म तो जीव के हैं । मैं जीव नहीं हूँ इसलिये मेरे लिये वेद एवं वेद प्रतिपादित सम्पूर्ण कर्म काण्ड भी नहीं है । यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, पूजा, पाठ, मंत्र, माला, ध्यान, समाधि आदि साधन तो उसके लिये कर्तव्य है जो अपने को मनुष्य, नाम, जाति, वर्ण, आश्रमी अभिमानी मानता है ।

मैं न भोक्ता जीव हूँ न मैं भोग्य ग्राह्य इन्द्रियाँ हूँ । न मैं भोग सामग्री हूँ

अर्थात् मैं द्रष्टा-दर्शन-दृश्य, ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय, प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय, आदि त्रिपुटी से रहित हूँ । जब मैं जन्मा ही नहीं तो मेरे माता-पिता होने का प्रश्न ही नहीं एवं जब जन्मा नहीं तब मृत्यु की शंका को स्थान ही कहाँ ? जब मैं जन्मा ही नहीं तो फिर मेरे कोई पति-पत्नी, सन्तान, बन्धु-मित्र, गुरु-शिष्य आदि सम्बन्धी भी नहीं है । इस प्रकार उपर्युक्त समस्त दृश्य देह संघात् मैं नहीं हूँ । मैं तो केवल समस्त नेति-नेति की सीमा रूप बन्ध-मोक्ष से परे सर्व इन्द्रियों का प्रकाशक, निर्विकल्प, असंग निराकार, शिव स्वरूप एक मात्र सच्चिदानन्द आत्मा हूँ । मेरे स्वरूप में विक्षेप नहीं है इसलिये समाधि की भी जरुरत नहीं है ।

दिखने वाले देह, प्राण, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और दिखने वाला संसार सब एक जाति के हैं । और इन सबको जानने वाला जीवात्मा तथा समस्त संसार को जानने वाला परमात्मा इन दोनों की तात्विक एकता है । जगत् एवं देह पंच भूत के कार्य होने से एक संज्ञा में आते हैं एवं जीव तथा परमात्मा दोनों सच्चिदानन्द होने से यह भी एक रूप ही हैं और वह मैं स्वयं हूँ ।

कोई भी हिन्दु, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई, जैन, बौद्ध, आर्य, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र, मारवाड़ी, गुजराती, बिहारी, पंजाबी, सिन्धी, मराठी, उड़िया, बंगाली, स्त्री, पुरुष आदि अभिमानी जीव परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकेगा । यह देह, प्रांत, जाति, आश्रम, सम्बन्ध, देश, काल अभिमानी तो सब मिट्टी में ही मिलेंगे । परमात्मा की प्राप्ति तो केवल उसी जीवात्मा को होगी जो समस्त अभिमान के त्याग पूर्वक सोऽहम् निष्ठा में ही सन्तुष्ट है । मुक्ति हेतु इससे पृथक् अन्य कोई मार्ग नहीं है ।

''नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय''

– श्वेताश्वतर उप. ६/२५

ॐ

मोह मुद्गर

– शंकराचार्य

नारी स्तन भर नाभी देशं
दृष्टवामागा मोहवेशम् ।
एतन्मांसावसादि विकारं
मनसि विचिन्तय वारं वारम् ।।३।।

पागल कर देने वाले युवतियों के उभरे वक्षस्थल और उनके नाभि को देखकर मोह के शिकार मत बनो । ये तो केवल मांस और चर्बी के विकार मात्र है ।

शरीरं व्रणवत पश्येदन्नं तु व्रण लेपनम् ।
व्रण सिंचनवद् वारि वस्त्रं तु व्रण पट्टवत् ।।४।।

शरीर को घाव की तरह, अन्न को घाव पर लगाने वाले लेपन, मरहम, जल को घाव धोने वाले डिटाल द्रव की तरह एवं कपड़ों को घाव पर बान्धने वाली पट्टी की तरह ही जानना चाहिये ।

यावद वित्तोपार्जन सक्त
स्तावन्निजपरिवारो रक्तः ।
पश्चाज्जीवति जर्जर देहे
वार्तां कोऽपि न पृच्छतिगेहे ।।

जब तक धनोपार्जन करते हो तभी तक परिवार के लोग तुम में प्रीति आसक्ति दर्शाते हैं । वृद्धावस्था में जब तुम किसी उपयोग के न रहोगे तब घर के लोग तुमसे बात करना, पूछना भी न चाहेंगे ।

वालस्तावत्क्रीडासक्त
स्तरूणस्तावत्तरूणी सक्तः ।
वृद्धस्ताव च्चिन्तासक्तः
परमे ब्रह्मणि कोऽपि न सक्तः ।।७।।

जीव बाल्यावस्था खेल ने में, युवावस्था भोग ने में तथा वृद्धावस्था चिन्ता में आसक्त हो जाता है किन्तु परमात्मा में कोई भी प्रीति नहीं करता है ।

का ते कान्ता कस्ते पुत्रः
संसारोऽयमतीव विचित्रः ।
कस्य त्वं कः कुत आयात
स्तत्वं चिन्तय तदिह भ्रातः ।।८।।

विचारो ! कौन तुम्हारी पत्नी है ? कौन तुम्हारा पुत्र है ? यह संसार बहुत विचित्र है कहाँ से आये हो ? तुम किसके हो ? हे भाई ! उस सत्य की चिन्ता करो ।

सत्संगत्वे निस्संगत्वं
निस्संगत्वे निर्मोहत्वम् ।
निर्मोहत्वे निश्चलतत्वं
निश्चल तत्त्वे जीवन्मुक्तिः ।।९।।

सत्संग से अनासक्ति होती है, अनासक्ति से माया से छूटकारा, माया से छूटने पर ही वास्तविक नित्य तत्त्व का अनुभव होता है । जिस अनुभव से मुक्ति की प्राप्ति होती है ।

वयसिगते कःकाम विकारः
शुष्के नीर कः कासारः ।

क्षीणे वित्ते कः परिवारो
ज्ञाते तत्त्वे कः संसारोः ।।१०।।

बुढ़ापा आजाने पर इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती है तब काम विकार नहीं रहता है । जैसे नदी का जल सुख जाने पर कुछ भी आकर्षण नहीं रहता । वैसे ही धन समाप्ति पर परिवार इधर-उधर जीवन निर्वाह हेतु बिखर जाता है तथा आत्मज्ञान होने पर संसार के प्राप्ति सत्य एवं सुखबुद्धि भी इसी प्रकार समाप्त हो जाती है ।

का ते कान्ता धनगत चिंता
वातुल किं तव नास्ति नियन्ता ।
चिजगति सज्जन संगती रे का
भवति भवांर्णवतरणे नौका ।।११।।

ओ पगले ! स्त्री, धन आदि की चिन्ता क्यों करता है ? वह जो सबका नियामक है वह तुम्हारे लिये नहीं है क्या ? सारे त्रिभुवन में जन्म-मृत्यु रूप समुद्र को पार करने की एक मात्र सुदृढ़ नौका सत्संग है ।

जटिलो मुण्डी लुञ्छित केशः
काषायाम्बर बहुकृतवेषः ।
पश्यन्नपि च न पश्यति मूढ़ोः
ह्युदर निमित्तं बहुकृत वेषः ।।१४।।

परमात्मा नित्य प्राप्त है उसे जानने के अतिरिक्त कुछ करने की जरुरत नहीं है फिर भी किसी ने जटा, मुंडन, केश लोचन, गेरुवा वस्त्रादि, धारण किया है । यह बाह्यवेश धारी सभी मूर्ख हैं । ज्ञान चक्षु बिना देखते हुए भी अन्धे के समान है । वास्तव में यह सब वेश उदर पूर्ति एवं धनार्जन का साधन मात्र बना रखा है ।

अंग गलितं पलितं मुण्डं
दशन विहीनं जातं तुण्डम् ।
वुद्धो याति गृहीत्वा दण्डं
तदपि न मुञ्चत्याशापिण्डम् ।।१५।।

जिनका शरीर अब गल गया है, सिर के बाल पक गये हैं, दांत सब गिर गये है । बूढ़ा लाठी के सहारे चल पाता है । फिर भी वह आशाओं की गठरी नहीं छोड़ता है ।

कुरुते गंगा सागर गमनं
व्रत परिपालनमथवा दानम् ।
ज्ञान विहीन सर्वम् तेन
भवति न मुक्ति जन्म शतेन ।।१७।।

हे मक्तों ! तुम चाहे गंगासागर जाकर एकबार स्नान करो चाहे अनेकबार, चाहे तुम अनेक प्रकार के कष्टप्रद व्रत, उपवास करो, चाहे स्वर्णदान, भूमिदान, बस्त्रदान, अन्नदान, गो दानादि भी क्यों न करो लेकिन इतना तुम स्मरण रखो कि यह सब साधन निष्काम भाव द्वारा चित्तशुद्धि के साधन तो है किन्तु आत्मज्ञान प्राप्त किये बिना तुम्हारे दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति एवं परमानन्द की प्राप्ति रूप कैवल्य मोक्ष तो सो जन्म में भी नहीं हो सकेगा ।

योगरतो वा भोगरतो वा
संगरतो वा संगविहीनः ।
यस्य ब्रह्मणि रमते चितं
नन्दति नन्दति नन्दत्येव ।।१९।।

हे साधक ! चाहे योग करो या भोग, संग रहो या एकान्त वास करो, जिसका मन ब्रह्म में लग गया वास्तव में वही प्रसन्न है ।

पुनरपि जनमं पुनरपि मरणं
पुनरपि जननी जठरे शयनम् ।
इह संसारे बहुदुस्तारे
कृपयाऽपारे पाहि मुरारे ।।२१

जबतक आत्मज्ञान नहीं होता है, तब तक जीव को बारम्बार मृत्यु एवं बारम्बार मां के गर्भाशय में नव माह का निवास कर जन्म लेना पड़ता है । यह संसार सागर में असहनीय कष्ट भोगना पड़ता है । हे प्रभो ! मुझे अबतो कृपा करके इस भव सागर से उद्धार करें ।

सुखतः क्रियते रामाभोगः
पश्चाद्धंत शरीरे रोगः ।
यद्यपि लोके मरणं शरणं
तदपि न मुञ्चति पापा चरणं ।।२८।।

सुख के लिये विषयासक्त हो शरीर नष्ट-भ्रष्ट रोग ग्रस्त कर लेते हैं पश्चात् मृत्यु के समीप हो जाने पर भी अपने पाप आचरण को नहीं छोड़ते हैं ।

कामं क्रोधं लोभं मोहं
त्यक्त्वाऽत्मानं पश्यति सोऽहम् ।
आत्मज्ञान विहिना मूढ़ाः
स्ते पच्यन्ते नरक निगूढ़ाः ।।

साधक काम, क्रोध, लोभ, मोह को विषय मार्ग से हटकर अपने अन्दर आत्मनिष्ठा कर परमात्मा के साथ ''सोऽहम्'' का अनुभव करता है । जिनको यह सोऽहम् धारणा आत्मज्ञान नहीं है वे मूर्ख हैं । वे मृत्योपरान्त यमलोक में बंदी की तरह दण्डनीय होंगे ।

● ॐ ●

कस्तूरी कुंडल बसे

जिज्ञासु याद रखें । जब तक समझ में आने वाली, जानने में आने वाली, देखने वाली वस्तु को ब्रह्म मानोगे तब तक वह ब्रह्म अनुभूति नहीं हो सकती । क्योंकि वह समझने वाले, जानने वाले, देखने वाले से भिन्न है । तब भेद दर्शी को अद्वैत का बोध कहाँ हुआ ? ब्रह्म को जब तक अपने से पृथक् दृश्य, ज्ञेय, ध्येय, प्रमेय रूप समझोगे तब तक ब्रह्म ज्ञान नहीं हुआ ।

जब तक साधक किसी काल विशेष में नित्य ब्रह्म को समझता रहेगा तब तक उसे ब्रह्मज्ञान नहीं हुआ । जब तक किसी देश विशेष में सर्वव्यापी ब्रह्म को समझा जावेगा तो अभी उसे ब्रह्मज्ञान नहीं हुआ । जब तक सर्बरूप ब्रह्म को अपने से भिन्न कोई प्रत्यक्ष-परोक्ष या अपरोक्ष वस्तु समझा जावेगा तब तक उसे ब्रह्मज्ञान नहीं हुआ है एसा माना जायेगा । ब्रह्मज्ञान का भी एक क्रम है और वह क्रम है कि सद्गुरु एवं शास्त्र का सहारा लेकर पहले परमात्मा के ठीक स्वरूप को समझें तो अज्ञान आवरण अपने आप भंग हो जाता है तब आप जानेंगे कि जिसे मैं खोज रहा था वह ''वह मैं हूँ'' यह आत्मा ही ब्रह्म है । मैं ही ब्रह्म हूँ । तत्त्वमसि, ''अयमात्मा ब्रह्म'', ''अहं ब्रह्मास्मि'' ।

आप देखेंगे कि जो ब्रह्म यहाँ है और वहाँ भी है अब भी है और तब भी है । यह भी है और मैं भी हूँ । इस प्रकार पहचानने के सिवाय ब्रह्म किसी और प्रक्रिया से प्राप्त नहीं किया जा सकेगा । यह 'सोऽहम्' प्रक्रिया केवल सद्गुरु एवं शास्त्र से ही प्राप्त होती है । जब इस क्रम से जानते हैं तो भान होगा कि सम्पूर्ण प्रतीति, सम्पूर्ण दृश्य मुझ अनन्त अद्वय अधिष्ठान में भास रही है । मैं ही सब अन्य रूप से प्रत्यक्ष, परोक्ष, अपरोक्ष रूप में प्रतीत हो रह हूँ ।

वेदान्त बताता है कि परम सत्य, परम ज्ञान स्वरूप, परम आनन्द स्वरूप तुम्हारी आत्मा स्वयं है, तुम स्वयं ही वह सत, चित और आनन्द हो । बस तुम उसे पहचानते नहीं इसीलिये तुम देहाभिमान किये हो एवं दुःखानुभूति कर रहे हो ।

किसी कर्म के द्वारा परमात्मा को प्राप्त नहीं किया जा सकता । क्योंकि परमात्मा साधन साध्य नहीं है । ''***नास्त्यकृतः कृतनेन***'' मुण्डक – १/२/१२ । परमात्मा तो नित्य प्राप्त निजात्म स्वरूप है । परमात्मा तो सर्व अधिष्ठान वस्तु है । जैसे स्वर्ण से सब अलंकार बनते हैं किन्तु स्वर्ण को बनना नहीं पड़ता । इसी प्रकार ब्रह्म नित्य सर्वाधिष्ठान सत्य वस्तु होने से साधनों द्वारा प्राप्त नहीं बताया जाजा है । वह तो सद्गुरु के प्रति पूर्ण श्रद्धा एवं समर्पण भाव से ही अनुभव रूप जाना जाता है । जैसे परमार्थ वस्तु आकाश को बनाया नहीं जाता उसी प्रकार ब्रह्म नित्य, एक रस, व्यापक है, उसे बनाया या प्राप्त करना नहीं है बल्कि वह तुम हो ''तत्त्वमसि'' । केवल इतना ही निष्ठा पूर्वक जानना कर्तव्य है ।

वेदान्त कहता है कि अज्ञान को मिटने के लिए न वस्तु चाहिये न भावना, न स्थिति । गले में मणि, रुद्राक्ष, चन्दन, तुलसीमाला, या जनेऊ (यज्ञोपवित) आदि किसी प्रकार के बाह्य चिह्नों को धारण करने की आवश्यकता नहीं । बाह्य अहिंसा, सम्प्रदाय, दासता, जटा-मुण्डन, गैरिक वस्त्र धारण, सदाचार, दान, जप, होम आदि से भी अज्ञान नहीं कटेगा । राम, कृष्ण, शिव, दुर्गा आदि इष्टकार वृत्ति से भी स्वरूप अज्ञान नहीं मिटेगा । वह तो स्वरूप ज्ञान से ही कटेगा ।

ब्रह्म से अपने को परिच्छिन्न मानने का जो भ्रम तुम्हें जाग्रत अवस्था में लगा है वह जाग्रत अवस्था में ही मिटाया जायेगा तभी यह भेद भ्रान्ति दूर होगी अन्यथा नहीं । संसार बन्धन का भ्रम सुषुप्ति एवं स्वप्न में उदय नहीं

होता यह तो जाग्रत में ही भासता है । इसलिये इसे जाग्रत में सद्गुरु के उपदेश द्वारा मिटाना होगा । यह आँख बन्द करने या ध्यान समाधि से नहीं छूटेगा । यह बन्धन जो स्वरूप को नहीं समझने से लगा हुआ सा मालूम पड़ता है, वह भ्रम तो केवल स्वरूप ज्ञान से ही निवृत्त हो सकेगा ।

जाग्रत अवस्था में अज्ञान को मिटाने का उपाय वेदान्त बतलाता है । समाधि और सुषुप्ति में व्यवहार नहीं होता । स्वप्न व सुषुप्ति, मूर्च्छा तथा समाधि अवस्थाओं का जो एक साक्षी, चेतन आत्मा है वह एक है और वह चेतन तुम हो और यह जो तुम एक चेतन हो वही अखंड ब्रह्म है । इस प्रकार का भेद भ्रम रूप अज्ञान ब्रह्म आत्मा के एकत्व बोध से नष्ट हो जाता है । अज्ञान को जाग्रत अवस्था में मिटाने की प्रक्रिया वेदान्त बताता है । शेष सब साधन अज्ञान को बढ़ाने वाले एवं मन को मूर्च्छित करने के हैं जिससे जीव का बन्धन कटाता तो नहीं प्रत्युत और दृढ़ हो जाता है ।

यदि जाग्रत अवस्था में ही गुरु के सामने एकाग्रता एवं श्रद्धापूर्वक बैठे-बैठे गुरु के बोलते-बोलते तुम यह समझ गये कि 'मैं ब्रह्म हूँ' तो श्रवण दशा में ही तुम्हारे जीवभाव की निवृत्ति हो जायेगी । मुक्ति हेतु ब्रह्म निश्चय के अतिरिक्त अन्य साधन करने की आवश्यकता नहीं है । क्योंकि जीव भाव केवल न समझने के कारण है । जब तुम ब्रह्म को निजात्म "सोऽहम्, शिवोऽहम्""अहं ब्रह्मास्मि" रूप जान गये तो जीव भाव निवृत्त हो गया । एवं जीव भाव निवृत्त होना ही अज्ञान बंधन का मिटना है और अज्ञान बन्धन का कटना ही आत्मसाक्षात्कार रूप मुक्ति है ।

● ॐ ●

ज्ञान आचरण में नहीं

साधकों के मन में एक बात बड़ी गहराई से घर कर बैठी है कि ''हम वेदान्त ज्ञान की बातें तो सुनते हैं पर वे हमारे काम में, जीवन में, आचरण में, व्यवहार में उपयोग में नहीं आती है ।

उपरोक्त मिथ्या धारणा प्रायः सभी अदृढ़ ज्ञानियों के मन में बनी रहती है जो उनके आध्यात्मिक लाभ में अर्थात् द्रष्टा, साक्षी स्वरूप निष्ठा में बड़ी घातक एवं बाधक है ।

हे साधकों ! जिस ज्ञान को आप काम में आना, जीवन में आना, व्यवहार में आना मानते हैं एवं पश्चात् सन्तुष्ट होना चाहते हैं । उसका कारण यह है कि आप इस असत् देह, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार दृश्य से मैं पने या मेरे पने का सम्बन्ध मानकर, दृश्य में अहंता-ममता कर ही ऐसा निराशाजनक कथन करते हैं कि सत्संग व ज्ञान की बातें आचरण में नहीं आती है ।

अच्छा मान लेते हैं कि हमारे मन में कोई असामाजिक अप्रिय गन्दगी, चंचलता आई । जब मन एवं चंचलता ही असत् है तब उसके साथ तादात्म्य सम्बन्ध (अहंता-ममता) करके जो अपना सहज नित्य, शुद्ध, निर्विकार, मुक्त, साक्षी आत्म स्वरूप हैं उसमें विकारों का प्रतिविम्ब देख मैं आत्मा विकारी हूँ ऐसा क्यों मानते हो ? यही साधकों की मुख्य भूल है जो वे दृश्य देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के धर्मों को अपने आत्म स्वरूप दर्पण का धर्म मान दुःखी होते हैं एवं नित्य सत्य स्वरूप, साक्षी ज्ञान में अश्रद्धा रखते हैं । सच में तो दर्पणवत् आप में कोई दृश्य विकार धर्म नहीं है किन्तु आप अपने अन्तःकरण, इन्द्रिय, देहादि असत्, दृश्य वर्ग के साथ मैं-मेरा पन कर दुःखी होते हैं ।

हे जिज्ञासु जनों ! असत् दृश्य नाशवान, विकारी, पंच भौतिक पदार्थों

में विकार होना तो जल–तरंग, अग्नि उष्णवत् स्वभाविक धर्म है । दृश्य तो कभी निर्विकार हो ही नहीं सकता एवं तुम द्रष्टा कभी विकारी हो नहीं सकते । अतः दोनों दृष्टि से तुम अपने को सदा मुक्त ही जान केवल साक्षी बने रहो । यथा प्राप्त को स्वीकार करते चलो । किसी में राग–द्वेष न करो, एवं दर्पण की तरह दर्शाते चलो किन्तु आप उन विकारों को अपने में मान लेते हो एवं कहते हो वेदान्त ज्ञान केवल सुनने से क्या होगा जब तक कि हमारे आचरण में न आवे ।

आप यह क्यों नहीं देखते कि कोई आता है एवं चला जाता है किन्तु आप तो आने–जाने वाले दृश्य, व्यक्ति, परिस्थिति, सुख–दुःख, रोग–भोग के समय ज्यों के त्यों एक रस ही बने रहते हैं । आप में तो कोई विकार आता ही नहीं ।

हे आत्मन् ! प्रकृति, दृश्य वर्ग तो अपने स्वभाव में बर्त रही है । आप ही केवल अपने स्वरूप में श्रद्धा नहीं करते है । जब आप सुख–दुःख में सम अर्थात् साक्षी हो जावेंगे तभी आप अपने को स्वस्थ एवं निर्विकार देखेंगे, तभी यह ज्ञान आपको सार्थक प्रतीत हो जावेगा ।

‘‘**सम दुःख सुखः स्वस्थः**#’’

– गीता १४/२४

इस सुख–दुःखों के भोक्तापन में हेतु कौन होता है ? तो श्रीकृष्ण गीता में उत्तर देते हैं –

‘‘**पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृति जान् गुणान्** ’’

– गीता : १३/२१

जो पुरुष देह, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्तादि प्रकृति में मैं पने का अहंकार कर स्थित होता है वही उस परधर्म में मिथ्या अहंकार के परिणाम स्वरूप प्रकृति के द्वारा उत्पन्न सुख–दुःख, रोग–भोग का भोक्ता होता है ।

प्रकृति में स्थित होना क्या है ? तो उत्तर मिलता है असत् नाम, रूप, जाति, कुल, गोत्र, सम्बन्ध, जन्म-मरणादि धर्मों में मैं पने का एवं नाशवान पदार्थों में मेरे पने का अहंकार करना ही माया है ।

"मैं अरु मोर तोर तैं माया
जा बस कीन्हे जीव निकाया"

– रामायण, अरण्य : १४/२

इस दृश्य, विकारी नाशवान देह प्रकृति में अहंकार कर ही लोग कहते हैं कि ज्ञान आचरण में नहीं आता है । विकारों से सम्बन्ध आप छोड़ते नहीं और विकारों से बचना चाहते हैं तो यह कैसे सभव होगा ? अस्तु दृश्य देह संघात् की अवस्था एवं मनोवृत्तियों को अपनी न माने बस यही ज्ञान श्रवण का फल एवं उपयोग है ।

हे आत्मन् ! असत् दृश्य, देह संघात् में स्वभाविक क्रियाएँ जल तरंग वत् चल रही हैं, किन्तु हम उनसे मैं-मेरा सम्बन्ध जोड़ अज्ञानी लोग अपने को विकारी मानने की भूल कर जाते हैं । जबकि परधर्म जन्म-मरण के दुःख का हेतु है । अन्य के धर्मों को स्वधर्म अर्थात् अपने धर्म मानना ही संसार बन्धन का हेतु है । आप इतना दृढ़ निश्चय रखें कि असत् दृश्य वर्ग से हमारा उसी प्रकार किंचित् भी सम्बन्ध नहीं है, जिस प्रकार कि सूर्य का अन्धकार के साथ किंचित् भी त्रिकाल में सम्बन्ध नहीं है । यह दृश्य विकार तो मेरे द्वारा जानने में आता है और मैं उससे पृथक् उसका जानने वाला हूँ । तो जानने में आने वाले दृश्य से जानने वाला द्रष्टा सदा भिन्न ही होता है । तब जानने वाला जानी गई वस्तु रूप कैसे हो सकेगा ? जैसे कुत्ते को देखने वाला मैं कुत्ता हूँ ऐसा तो कोई स्वीकार नहीं करता है । किसी बूढ़े-बूढ़ी को देखने वाला कोई युवा अपने को तो बूढ़ा-बूढ़ी नहीं मानता । तब इसी प्रकार मन, बुद्धि का द्रष्टा विकारी, चंचल, अशान्त कैसे हो सकेगा ?

हे आत्मन् ! जिसे ''यह'' रूप आप देखते, जानते हैं वह ''मैं''रूप कैसे हो सकता है ? इदम् कभी अहम् रूप नहीं हो सकता है । ''यह'' तो ''यह'' ही रहेगा मैं नहीं हो सकेगा । शरीर को तो ''**इदं शरीरम्**'' भगवान द्वारा अर्जुन को निश्चय कराया गया है (गीता १३/१) यह शरीर आपके द्वारा जानन मैं आने वाला है । और आप इस शरीर के जानने वाले हैं । तब आप शरीर को जानने वाले स्वयं शरीर रूप कैसे हो सकते हैं ? अस्तु शरीर के साथ मैं पने का तादात्म्य करना महान भूल है । शरीर जगत् का अंश है क्योंकि जगत् एवं शरीर का मूलाधार एक पंचभूत है एवं, जीव ईश्वर का अंश होने से ईश्वर रूप है । अतः अपने मूल रूप में जीव अहंकार करना ही सर्वथा उचित है, देहादि परधर्म में अहंकार करना ही अज्ञान एवं बन्धन है ।

जिन भाग्यशाली जीवात्माओं को सद्गुरु की शरण प्राप्त हुई है उन्होंने तो मिथ्या देह संघात् से अहंकार छोड़ ''अहं ब्रह्मास्मि'' ''शिवोऽहम्'', ''सोऽहमात्मा'' इस प्रकार स्वरूप में निश्चय कर जीवन्मुक्ति लाभ लिया है ।

ममैवांशो जीव लोके जीव भूतः सनातनः

– गीता : १५/७

ईश्वर अंश जीव अविनाशी
चेतन अमल सहज सुखराशी – रामायण

अतः अब आप उपरोक्त प्रमाणों से अपने को ब्रह्मांश, ईश्वरांश, अमृतांश मान मिथ्या देहाहंकार का त्याग कर सदा आनंदानुभूति करें । भ्रम से आपका 'मैं रूप' अहंकार शरीर में है एवं 'यह रूप' निश्चय परमात्मा में है । जबकि शास्त्र, संत ''तत्त्वमसि'' द्वारा इससे उल्टा (सही) निश्चय कराकर जीव को स्वरूप में स्थित कराते हैं कि देह पंचभूत का अंश है यह देह आप नहीं है । और आप परमात्मा के अंश होने से सच्चिदानंद रूप

मुक्तात्मा है । आप सोऽहम् चिन्तन द्वारा दृढ़ निश्चय करलें कि आने-जाने वाले विकारों से मेरा किंचित् भी सम्बन्ध नहीं है ।

उल्टा नाम जपा जग जाना ।
बाल्मिकि भये ब्रह्म समाना ।।

यह बात निश्चय से जानलें कि संसार के साथ मिलकर संसार का एवं परमात्मा से भिन्न मानकर परमात्मा का बोध कभी नहीं हो सकेगा । परमात्मा का बोध तो परमात्मा से अभिन्न जानकर एवं संसार का बोध संसार से भिन्न जानकर ही हो सकता है । यदि आप असत् देह, इन्द्रियों एवं मनादि से मिलकर एवं परमात्मा से भिन्न माने रहेंगे तो फिर आप को न सत का ज्ञान होगा न असत का ।

यदि आप अन्तःकरण शुद्ध कर अपने को शुद्ध मानने का विश्वास रखते हैं तो वह भी करके देख लीजिये । मैं उसके लिये इन्कार नहीं करता किन्तु इतना स्पष्ट सत्य समझ लीजिये कि जप, तप, पूजा, पाठ, यज्ञादि साधनों से अन्तःकरण उतना शीघ्र शुद्ध नहीं होगा जैसा कि शीघ्र सद्‌गुरु की कृपा से अपने को देह संघात् से पृथक् द्रष्टा, साक्षी, असंगात्मा के ज्ञान द्वारा होता है । यदि आप असत् अन्तःकरण को सत मानकर ठीक करना चाहेंगे तो आप असत् को सत्ता देते रहने से वह कभी मिटेगा नहीं । यदि मिटेगा तो जन्म-जन्मान्तर तक अभ्यास कर अन्त में थक कर ज्ञान में ही आना होगा एवं अन्त में व्यर्थ बीते काल के लिये पछताना ही होगा ।

''इदं शरीरम्'' इस सूत्र से हमें ज्ञात होता है कि स्थूल, सूक्ष्म, कारण तथा महाकारण चारों शरीर ''इदम्'' है ''यह रूप दृश्य है'' अर्थात् हम से न्यारे हैं । इन्हें जो जानता है उसे ''क्षेत्रज्ञ'' कहते हैं । प्रकाशक से प्रकाशित वस्तु संसार से सूर्य की तरह सर्वथा अलग है । क्योंकि जानने में आने वाले ये चारों शरीर से आप जानने वाले सर्वथा पृथक् होने से इनके साथ आपका

कोई सम्बन्ध नहीं है । आपका सम्बध एकमात्र परमात्मा के साथ सोऽहम् रूप में हैं ।

''क्षेत्रज्ञं चापि माम् विद्धि''

समस्त शरीर तो क्षेत्र कहलाते हैं एवं इन शरीरों के ज्ञाता को क्षेत्रज्ञ कहते हैं और वह सब शरीरों का जो ज्ञाता आत्मा क्षेत्रज्ञ है उसे तुम परमात्मा ही जानो तथा वह परमात्मा तुम हो 'तत्त्वमसि' ।

''अयं आत्मा ब्रह्म''

इस प्रकार उपरोक्त सूत्रों पर श्रद्धा विश्वास कर आप अपने को शरीरों से असंग एवं परमात्मा से अभिन्न जानेंगे तो ''क्षिप्रं भवति धर्मात्मा'' अल्पकाल में शुद्धि को प्राप्त कर सकेंगे । किन्तु अपने महान सदाचार, सद्गुणो, भक्तिभाव, तप, जप, पूजा, पाठ, तीर्थ, स्नान, ध्यानादि द्वारा वह शुद्धि नहीं पा सकेंगे । आप परमात्मा के साथ जितना अभिन्न रहेंगे उतनी ही आप में स्वाभाविक शुद्धि का स्वतः अनुभव होने लगेगा तथा मन और बुद्धि में भी स्वतः ही शुद्धि आ जायेगी । क्योंकि आप अपने मूल वस्तु नित्य, शुद्ध स्वरूप के साथ अभिन्नता जान कर देहादि पर वस्तु में पृथक्ता का अनुभव कर लिया है । अपने नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तानन्द स्वरूप प्राप्ति हेतु यही एकमात्र सब के लिये सरल साधन है ।

प्रकाश–अन्धकार की तरह जड़–चेतन का स्वभाव भिन्न है । शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, आदि का स्वभाव चल अर्थात् आने–जाने वाला है और आप अचल द्रष्टा, साक्षी एकरस आत्मा हैं । इनके साथ अपना सम्बन्ध न जानें । यदि आप देह संघात् से सम्बन्ध मानेंगे तो अनुकूलता–प्रतिकूलता के कारण सुख–दुःख प्राप्त होगा –

''पुरुषः सुख दुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते''

– गीता १३/२०

जो पुरुष प्रकृति के धर्म में अहंकार कर स्थित होता है । वही प्रकृति जन्य गुणों का भोक्ता है । इसलिये उसे सुख–दुःख का भोक्ता बनना पड़ता है । किंतु जो अपने द्रष्टा, साक्षी, आत्म स्वरूप में स्थित रहता है वह सुख–दुःख में समभाव रखने वाला ज्ञानी पुरुष निर्विकार, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त आनन्द स्वरूप ही रहेगा । और तभी ज्ञान की बात आचरण में घट जावेगी ।

आप असत् मन, बुद्धि, इन्द्रिय तथा शरीरादि में अहं बुद्धि करके ही अपने को शुद्ध करने के लिये जोर लगाते हैं और जितना अधिक साधन करते हैं उतना ही अपने को श्रेष्ठ साधक, भक्त, त्यागी, साधु मानने का भ्रम पैदा कर लेतें हैं, किन्तु बात विपरीत ही होती देखी जाती है । जितना आप साधन करेंगे उतना ही कर्ता पन रूपी अहंकार की मलिनता बढ़ती जाती है । मन अचल के स्थान पर ज्यादा चंचल ही पाया जाता है और इससे साधक के मन में निराशा आ जाती है । इसका उपाय यह है कि आप अपने स्वरूप को नित्य, शुद्ध, नित्य निर्विकार, असंग ही जानें एवं असत् देह संघात् के साथ माने हुए सम्बन्धों से अपना अहंकार तोड़ लें और परमात्मा के साथ अपना एकतव अनुभव करें कि मैं साक्षी परमात्मा हूँ । '**सर्वधी साक्षी भूतम्**' ।

स्वभाव से असत् देह संघात् को शुद्ध नहीं किया जा सकता है । अनात्मा शरीर में ममतारूपी मल को साथ रख मन, बुद्धि, को कैसे शुद्ध बना सकेंगे ? इसलिये प्रथम इन असत् मन, इन्द्रियादि से अपना सम्बन्ध छोड़ दें । इस बात को मानने से आप स्वधर्म में स्थित हो जायेंगे एवं तत्क्षण अनुभव करेंगे कि मैं स्वस्थ हूँ । चंचल मन को स्थिर बनाने का प्रयास करना जल में उठने वाली तरंगों को शान्त करने की तरह असम्भव कार्य ही है । तरंग शांत करने की जरूरत भी नहीं है उन्हें शान्त करने हेतु जल रूप जान लेना ही पर्याप्त है । फिर तरंग है ही कहाँ, जिन्हें शान्त करने का प्रयत्न करना

होगा ? असत् को सत्ता देने से तो उसको और हमसे बल मिल जाता है । तरंग को शान्त करने हेतु आप जल पर लाठी, पत्थर का प्रहार करेंगे तो और अधिक तरंगों को ही उत्पन्न करेंगे किन्तु शान्ति नहीं ।

इसी प्रकार इस मन को आत्म समुद्र के ऊपरी तल पर उठने वाली तरंग समझकर इसे शान्त करने, एवं निर्विकार बनाने का प्रयास छोड़ देना ही साधक के पक्ष में सर्वोत्तम साधन है । मन किसी का आजतक शान्त हुआ नहीं होगा भी नहीं तथा आवश्यकता भी नहीं है । यदि आवश्यकता है तो बस इन असत् सत्ताहीन प्रतीति को सत्ताहीन समझने की । सद्गुरु की कृपा से यह बात बुद्धि में जम जावे तो तत्क्षण कल्याण हो सकता है, नहीं तो करोड़ों कल्प प्रयास करते रहेंगे अन्त में निराश ही होना पड़ेगा । यह जड़-चेतन की असत्-सत् की ग्रन्थि ही जीव का मूल दोष है जो सद्गुरु कृपा से ही निवृत्त होता है ।

"ग्रन्थि न छूटि न होहिं सुखारी" ।

बच्चों को जब माता-पिता समझाते हैं तो वस्तु सामने रख यह भाई, यह बहन, यह पिता है, यह माता है या यह १,२, ५, १०, ५०, १००, ५०० का नोट है । यह गाय, यह कुत्ता, यह घड़ी है । वाक्य ऐसा बोला जाय कि श्रोता सरलता से समझ सकें । यही संत, ग्रन्थ व उपनिषदों का प्रयोजन है कि जिज्ञासु सरलता से अपने सत्यात्मा स्वरूप को समझ सके ।

जिज्ञासुगण शास्त्रपाठी संतो द्वारा ब्रह्म की कथा चाहे जीवन भर सुनते रहें किन्तु बक्ता की दृष्टि उस और न हो तो अनन्त जन्म में भी ब्रह्म की और श्रोता दृष्टि नहीं कर पायेगा । कोई मेरे बारे में सब प्रशंसा कर डालें कि स्वामी निरंजन एक धर्म, सम्प्रदाय, आश्रम, जाति, शिष्य, गुरु निरपेक्ष हैं, अच्छा बोलते हैं निष्कामी, प्रेमी, सेवा भावी हैं । श्रोता यह सब परोक्षज्ञान सुन रट बोल भी लेगा । सामान्य वस्त्र पहने हुए आपके सम्मुख या पास बैठा भी रहूँ

। किन्तु मुझे तब तक नहीं जान पायेंगे जब तक कि आपको कोई ''यह स्वामी जी हैं'', इस तरह कह कर साक्षात् अपरोक्ष ज्ञान न करावे । फिर जहाँ भी भिड़ में, अखवार काजग में, टी.वी में दिखाई पड़ जाऊँगा वहाँ देखकर बता देंगे यह वही स्वामीजी है ।

इसी प्रकार ब्रह्म के बारे में सब कुछ जानने पर भी श्रोता अज्ञानी ही है । ब्रह्म सम्मुख हो जावे तो भी नहीं पहचान पायेंगे । क्योंकि किसी ने जब तक ''यह वही ब्रह्म है'' ऐसा कह कर परिचय नहीं दिया है । उपनिषद ब्रह्म का इसी प्रकार परिचय कराते हैं । ''तत्त्वमसि'' वह तू ही है तो दृष्टि दृश्य से हट तत्काल द्रष्टा पर टिक जावेगी ।

यदि मन, बुद्धि में ब्रह्म की सब प्रकार सजातिय वृत्ति का प्रवाह कर दिया जाये कि ब्रह्म सत, चित, आनन्द, द्रष्टा, साक्षी, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, एक, अखंड, असंग, अधिष्ठान सर्वत्र अणु-अणु स्वयं प्रकाश है तो आप सब सुनकर यही कहेंगे कि फिर ऐसा ब्रह्म कब मिलेगा, कहाँ मिलेगा ? सब जगह है, सब में है, सब काल में है, ऐसा सुन बोल बता भी रहे हो तभी आपको अभी भी उसका मैं रूप व सोऽहम् रूप से परिचय नहीं । कोई पूछले कि जिस ब्रह्म की चर्चा कर रहे हैं वह मिल गया है, पा गये हैं ? तो आप चुप हो जायेंगे । जबकि वह ब्रह्म हृदय में रहता है, आपके मन बुद्धि का साक्षी एवं सर्व प्रकाशक है इतना भी सुना दिया गुरुओं ने तुम्हें, किन्तु आप अभी भी उसे देखने जानने के लिये ही प्रयत्न करते रहेंगे । जब सद्गुरु उपदेश करते हैं कि वह जो मन, बुद्धि का प्रकाशक परमात्मा है ''तत्त्वमसि'' वह तुम हो । तब आपकी दृष्टि अपनी ओर दृश्य से लौट जावेगी । आपको जब तक ब्रह्म का मैं रूप से बोध नहीं हुआ तो खोज बंद न करना ।

जिस दिन तुम्हें जिस सद्गुरु के द्वारा यह बोध हो जावे कि जिस ब्रह्म की चर्चा सुन रहे थे एवं वेद, उपनिषद, पुराण जिसे सच्चिदानन्द दिनेशा,

सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म, अप्रमेय आदि बताते हैं वह ब्रह्म तुम हो । जब ऐसा बोध हो जावेगा तब ही अपरोक्ष दर्शन, आत्मअनुभव, ब्रह्म साक्षात्कार कहा जा सकेगा । बिना अनुभव किये केवल श्रवण द्वारा ब्रह्म के प्रति धारणा, भावना बनाना परोक्ष ज्ञान कहलाता है । जैसे मुझे देखे बिना मेरे बारे में आप सुनकर मन में कोई कल्पना करने लग जाओ कि स्वामी ऐसे-ऐसे होंगे तो यह आपका मेरे प्रति साक्षात् अनुभव ज्ञान नहीं है बल्कि आपके मन में मेरे प्रति जो धारणा होगी वह परोक्ष ज्ञान होगा । किन्तु जब कोई बता देगा कि यह है स्वामीजी तब आपको स्पष्ट अपरोक्ष बोध होगा ।

यदि तुम्हें अनेकों संतो की सभामें मेरे सामन्य दर्शन हो जावें मेरी कथा भी बहुत सुन लें किन्तु फिर भी मैं तुम्हें नहीं मिला । क्योंकि यह मेरे बारे में समस्त परोक्ष ज्ञान कच्चा नक्शा तो बन गया किन्तु यही वह स्वामी है, ऐसा बोध हुए बिना सब कल्पना बनी रहेगी । मेरे नाम की महिमा भी श्रवण करो या किसी अन्य के बारे में किन्तु यही वह है जिसके बारे में चर्चा कर रहे थे । जब तक ऐसा बोध न कराया जायेगा तब तक उस श्रोता या दर्शक को उसके समीप बैठे रहने पर भी, मिले हुए होने पर भी उसकी आप के लिये अप्राप्ति ही बनी रहेगी ।

ब्रह्म भी अपरोक्ष है ब्रह्म की कथा भी सुनी किन्तु ब्रह्म अभी भी श्रोता के लिये दूर है । क्योंकि ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान तत्त्वमसि रूप महावाक्य द्वारा जब तक आपको किसी सद्गुरु ने बताया नहीं तब तक ब्रह्म मिला हुआ भी अनमिला ही बना रहेगा ।

ब्रह्म सतत चौबीसो घंटे तुम्हारे साथ है किन्तु कथा करने वाले ऐसी कमाल की कथा करते हैं कि आप सारे जीवन उनकी कथा सुनते रहोगे तो फिर भी तुम्हें ब्रह्मका अपरोक्ष ज्ञान नहीं हो सकेगा ।

कथा करने वाला उपदेशक, संत, गुरु जहाँ तुम्हें पहुँचाना चाहता है,

जिसकी कथा कर रहा है यदि उस ओर वह अपनी लक्ष्य दृष्टि नहीं करके, कथा करता रहे और तुम सुनते भी रहो तो भी वह संत उस ओर तुम्हारी गति नहीं करा सकेगा । यदि कथा करने वाले का ध्यान अपने लक्ष्य की ओर रहे और फिर वह कथा करे तो आपका ध्यान स्वाभाविक ही उस ओर खींच लेगा । जैसे मैं किसी पुरुष या स्त्री विशेष की ओर बार-बार दृष्टिपात करूँ, ध्यान दूँ तो आपकी दृष्टि भी उस ओर स्वतः ही हो जावेगी ।

इसलिये अज्ञानी के द्वारा की गई कथा से कभी ब्रह्म ज्ञान नहीं हो सकता है । जिसको स्वयं ही अपरोक्ष ज्ञान नहीं है कि जिसकी मैं कथा कर रहा हूँ वह मैं या कोई अन्य है ? वह है भी या नहीं ? है तो वह कौन है ? कहाँ है ? एवं किस तरह वह प्राप्त होता है ? तब वह दूसरों को कैसे अनुभव करा सकेगा ? वह तू है ऐसा वही कह सकेगा जिसने ब्रह्म का अपरोक्ष अनुभव अखण्ड रूप से करलिया है । हम कह दें हाथ दिखाकर कथा में - 'सो रहे हो ?' तो आप सब की दृष्टि उस ओर तत्काल खिंच जावेगी । और हजारों की भीड़ में बिना दृष्टि किये साधारण रूप में ऐसे ही कह दें - 'कथा में सोना अच्छा नहीं' तो सब अपने आस-पास देख सोचने लगेंगे कि स्वामीजी किसे सावधान कर रहे हैं न मालूम यहाँ कौन सो रहा है ?

वेद कहता है परमात्मा भिन्न दृश्य रूप से जाना नहीं जा सकता है । परमात्मा व जीवसाक्षी आत्मा भिन्न है ऐसा यदि कोई उपनिषदों का तात्पर्य भेद रूप से समझाता एवं समझाता है तो वह मूर्ख एवं अज्ञानी ही है । यदि अन्तःकरण साक्षी आत्मा से परमात्मा भिन्न होगा तो कभी भी वह अप्रमेय, अखंड, व्यापक एवं अपरोक्ष नहीं हो सकेगा । आप शास्त्रों से परमात्मा के बारे में जैसा सुनते हैं वैसा परमात्मा वेदान्ती के अलावा किसी ने नहीं जाना है । वेदान्ती ही उसे बुद्धि के साक्षी मन के द्रष्टा, मैं रूप '**सोऽहम्**' रूप जानते हैं ।

ब्रह्म बुद्धि ज्ञान का विषय नहीं है । स्वयं ज्ञान स्वरूप है वह जानने में दृश्य विषय रूप कभी नहीं हो सकता है। जो चित्त द्वारा ज्ञान द्वारा जाना जाता है वह ब्रह्म कभी नहीं हो सकता । बल्कि ब्रह्म वह है जो सबको जानता है जिसके प्रकाश से सब प्रकाशित हो रहा है ।

मन, बुद्धि से जो कुछ जाना जाता है वह संसार है किन्तु आपके मन, बुद्धि को जानता है वह स्वयं परमात्मा है और वह आप है '**तत्त्वमसी**' ।

● ॐ ●

अहं से इदम् का बोध

अंह का विषय है इदम् । अर्थात् अहं से यह मनुष्य, पशु, पक्षी, पहाड़, वृक्ष, नदी आदि जो कुछ जाना जाता है वह सब इदम् रूप है । इस अहं का भी सूक्ष्म भेद है । जब अहं द्रष्टा होता है तब द्रष्टा में एक तो अहंकार स्वयं एक वृत्ति है और उससे एक वृत्ति विषय तक जाती है जिससे इदम् विषय का ज्ञान होता है । जिसमें अहं वृत्ति न हो वह चैतन्य सामान्य ज्ञान स्वरूप है । किन्तु वह किसी का द्रष्टा या ज्ञाता नहीं होता है वह केवल शुद्ध ज्ञान स्वरूप है ।

जहाँ अहं-इदं रूप द्वैत होगा वहाँ ही किसी के द्वारा किसी को जाना या देखा जावेगा किन्तु जहाँ केवल ब्रह्म है वहाँ कौन किसके द्वारा किसे सुनें, सुंघे, देखे ? जब मैं से कुछ यह अन्य होगा तब ही तो अहं-इदम् को जान सकेगा ।

चैतन्य स्वरूप, ज्ञान स्वरूप ब्रह्म किसी का ज्ञाता, द्रष्टा, प्रमाता, ध्याता, विज्ञाता नहीं है । क्योंकि उससे पृथक् कोई ज्ञेय, दृश्य, प्रमेय, ध्र्यय रूप नहीं है । सद्गुरु द्वारा अंह ब्रह्मास्मि महावाक्य का बोध हो जाने पर फिर

तुम्हारे से पृथक् कुछ ज्ञेय नहीं तब तुम किसी के ज्ञाता भी नहीं हो । जब तुमसे पृथक् कुछ दृश्य नहीं, तब तुम किसी के द्रष्टा भी नहीं हो । तुमसे पृथक् कुछ ध्येय नहीं है तो तुम उसके ध्याता भी नहीं हो । तुमसे पृथक् कुछ प्रमेय नहीं तुम उसके प्रमाता भी नहीं हो । किन्तु जो किसी ब्रह्मज्ञानी सद्गुरु से वेदान्त तत्त्वका श्रवण, मनन नहीं करते हैं, उन्हें यह स्पष्ट बोध नहीं होता है कि हम चैतन्य है एवं हमारे द्वारा जाना गया ज्ञेय पदार्थ जड़ होगा । हजारों-हजारों ध्यानी, योगी, साधक, भजनानन्दी, साधु, महात्माओं को भी यह बोध नहीं होता कि मैं अखंड, पूर्ण चैतन्य, व्यापक ब्रह्म हूँ । यदि यह बोध हो जावे कि मैं व्यापक, पूर्ण, अखंड हूँ तो फिर तुम्हारा कोई ज्ञेय नहीं हो सकता और तुम किसी के ज्ञाता भी नहीं हो सकते । अज्ञानी को चैतन्य में परिच्छिन्नता जान पड़ती है ।

योगी देह के ऊपर उठ चैतन्य तक तो पहुँचते हैं किन्तु **वह चैतन्य पूर्ण ब्रह्म मैं हूँ** ऐसा बोध उन्हें नहीं होता है । योगी अपनी वृत्ति, दृष्टि तथा इन्द्रियों को अभ्यास द्वारा समेट तो लेता है और दृश्य को नहीं देखता है । किन्तु दृश्य न देखना एक बात है और दृश्य, द्रष्टा का कुछ न होना इन दोनों बातों में बड़ी भिन्नता है । जब हम चित्त वृत्तियों को समेटते हैं तो दृश्य से हटातो लेते हैं । परन्तु तब हम यह नहीं जानते हैं कि दृश्य एवं द्रष्टा स्वरूप से है ही नहीं, दृश्य-द्रष्टा दोनों सापेक्ष कल्पित है । केवल चैतन्य सत्य है ऐसा अनुभव ध्यान योगी को नहीं होता है । वह जगत् का अभाव तो देखता है कि वहाँ कोई दृश्य जगत् नहीं है । अब मैं दृश्य के पार आ गया किन्तु दृश्य है ही नहीं उसे ऐसा बोध कभी नहीं होगा । आप इन्दौर से बाम्बे चले जावें तो इन्दौर नहीं दिखेगा किन्तु इन्दौर नहीं है ऐसा नहीं कह सकोगे । जगत् की सत्यता एवं अहं से ब्रह्म की भिन्नता का भ्रम रूप से बोध सभी अज्ञानियों को होता है । चाहे कोई हजारों जन्म कर्म, उपासना एवं समाधि करता रहे किन्तु बिना अखण्ड ब्रह्म ज्ञान के भेद भ्रम का नाश नहीं हो सकेगा । प्रति

रात्रि जिस भेद संस्कारों को लेकर शयन किया जाता है, समाधि लगाई जाती है जागने पर फिर वही भेद संस्कार दोनों के समान रूप से भासने लगते हैं ।

जैसे लोहा आग के संयोग से उष्ण एवं लाल हो जाता है किन्तु पुनः अग्नि संयोग सम्बन्ध रहित होने पर धीरे-धीरे वैसा ही काला एवं ठण्डा हो जाता है । लोहा जो मध्य में लाल एवं गरम थोड़ी देर जो भास रहा है वह अग्नि संयोग सम्बन्ध से है । यह लाल एवं गरम उधार लिया हुआ गुण है । लोहा अग्निवत् सदा उष्ण एवं लाल नहीं रहेगा । इसी प्रकार ध्यान, समाधि में लौटने वाले बड़े-बड़े योगी साधक घंटों-घटों व्यवहार में भी शान्त दिखाई पड़ते हैं । कितने-कितने घंटे, दिन, माह, वर्ष एवं जन्म भी उसी शान्त प्रसन्नावस्था में रह सकते हैं; क्योंकि उस समाधि का प्रभाव उसके मन पर है किन्तु संसार के प्रभाव से वह मुक्त नहीं हो सकता । समाधि से लौटा व्यक्ति बहुत शांत पायेंगे किन्तु उसकी शिकायत वैसी ही बनी रहेगी जैसे समाधि के पूर्व थी । समाधि, ध्यान के समय उसे जैसा सहज आनन्द बना रहता था ध्यान-समाधि छूट जाने पर वैसा नहीं रहता है बल्कि कम होता जाता है । जैसे अग्नि में पड़ा गरम लोहा बाहर आते ही क्षण-क्षण शीतल होता जाता है उसी प्रकार ध्यान, समाधि के कुछ काल बाद ध्यानयोगी जैसे के तैसे हो जाते हैं ।

ध्यान हो या नहीं, कुण्डली जागे या न जागे, ज्योति दिखे या न दिखे, नाद सुनाई पड़े या न सुनाई पड़े किन्तु हम जागे हैं, हम प्रकाशक हैं । योगियों की कुण्डली जाग जाती है एवं वे सोते ही रहते हैं । उन्हें अपने स्वरूप का तो होश ही नहीं हो पाता है कि मैं कौन हूँ ? जगत् न दिखने का नाम जागना नहीं है बल्कि व्यवहार में हम साक्षी भाव से जाग रहे हैं, हमे ध्यान की जरूरत, समाधि की जरूरत नहीं है, ऐसा ध्यान करना ही जाग जाना है ।

''मोह निशा सब सोवन हारा

देखहिं सपन अनेक प्रकारा''

यदि जगत् की प्रतीति होते रहने का नाम ही जागना होता तो सब जाग रहे हैं । एवं जगत् की प्रतीति न होने का नाम समाधि-ध्यान होता तो बेहोश, मुर्च्छा तथा गहरी नींद वाले सभी ध्यानस्थ, समाधिस्थ ही कहलावेंगे । साधकों द्वारा साधना में जो कुछ देखा जाता है वह सभी स्वप्न है ।

''गो गोचर जहँ लगि मन जाई
सो सब माया जानेउ भाई ।।''

सद्गुरु कहते हैं जिस ब्रह्मकी तलाश में तुम इधर-उधर, यहाँ-वहाँ भटक रहे हो वह सत्य तुम ही हो 'तत्त्वमसि' परन्तु ''तुम'' शब्द भ्रामक है । क्योंकि आज तक ''हम्'' या ''तुम'' शब्द का परिचय देह रूप में ही करते आ रहे हैं । माता-पिता संसार वाले हमें यही उल्टा भान कराते आ रहे हैं । जन्मने-मरने वाले, बाल, युवा, वृद्धावस्था, रोगी, निरोगी, लम्बे-नाटे, दुर्बल-मोटे, स्त्री-पुरुष आकार वाले शरीर को ही मैं- रूप हम सभी लोगों ने जाना है । इसके अलावा हमें मैं को पहचानने, जानने का ज्ञान ही नहीं है ।

दिखाई पड़ने को ही सत्य मानते हैं । जो ''है'' उसे सत्य नहीं जानते । चाहे स्वप्न में देखें चाहे ध्यान में देखें या जाग कर देखें जो दिखाई पड़ता है हम उस 'है' रूप दृश्य पदार्थ को ही सत्य मानते हैं, उससे प्रभावित् हो जाते हैं 'यह है, वह है, ऐसा है, वैसा है' किन्तु उस समय ऐसा नहीं जानते है कि ''मैं हूँ'' । स्वप्न में नाना भेद जो दिखाई पड़ते हैं वह स्वप्न द्रष्टा मात्र ही है ऐसा स्वप्न में नहीं जानता है । स्वप्न में जो दिखा है, जो हुआ है वह सत्य नहीं है । जो आप स्वप्न के पूर्व थे, स्वप्न में हैं एवं स्वप्न के बाद जाग्रत में रहेंगे उन तीनों अवस्थाओं से रहित ''हूँ'' को कोई नहीं देखते हैं । जैसे अलंकार बने हैं वह आपको सत्य भासते हैं किन्तु जो अलंकार बनने के पूर्व बनने पर व टूटने के पश्चात् जो है वह स्वर्ण है वह सत्य है अलंकार सत्य

नहीं । इसी प्रकार जो दिख रहा है ध्यान, समाधि, स्वप्न या जगत् में वह दृश्य सत्य है या जिसे प्रतीत हो रहा है वह तुम सत्य हो ? लेकिन हमारे संस्कार तो जो दिखाई पड़ता है उसे ही सत्य मानने के पड़ चुके हैं, किन्तु जो देख रहा है उसे सत्य मानने का होश ही हम गवाँ बैठे हैं । 'यह दिखता है' हम यह बात मानते हैं किन्तु ''है'' को कोई नहीं देखता । क्या हम ''है'' को मान सकेंगे बिना किसी यह, वह पदार्थ के देखे ? जबकि ''है'' के बिना यह, वह रूप कुछ दिखाई ही नहीं पड़ेगा ।

ध्यान में नाद, प्रकाश, इष्ट दर्शन दिखाई पड़ते हैं यह बात ध्यानाभ्यासी को सत्य जान पड़ती है किन्तु उन सब दर्शन में आप नहीं है ऐसा मान सकते हैं ? नाम सुमिरन न करें, पूजा-पाठ न करें, तो आप नहीं है या यह नाम सुमिरन, पूजा, पाठ नहीं है ? यदि ध्यान में प्रकाश, शुन्य, नाद, दर्शन होना बन्द हो जावे तो आप नहीं रहे या प्रकाश, शून्य, नाद, दर्शन नहीं रहा ? हम उसके अभाव के प्रकाशक तो रहते ही हैं तब आप सत्य हैं । यह दिखाई पड़ने वाले दृश्य आपके अलावा कोई सत्य नहीं है । किन्तु महान आश्चर्य इसी बात का है कि आपको जो दिख रहा है आप उसे ही सत्य मान रहे हैं एवं जो स्वयं देख रहे हैं उस इस सत्य को आप भूल रहे हैं

''माया बस आप बिसरायो,
यहि कारण दारुण दुःख पायो''

आपने अपने को अज्ञानता के कारण भुला दिया है । भुला दिया है यदि ऐसी हमें याद रह जाती तो हम किसी जानकार से पुछकर पुनः याद कर लेते । किन्तु यहाँ तो हम भूले ही रहते हैं । भूला दिया है ऐसा होश भी नहीं है । आत्मा जानी जाती है आत्मा जानने में आती है पर कैसे ? किसी सद्गुरु की कृपा से इस आत्मा को ''मैं'' रूप में ही जाना जाता है । इसके अतिरिक्त आत्मा को किसी अन्य रूप से नहीं जान सकेंगे ।

ॐ

आत्म दर्शन

आत्मा सर्व व्यापक है पर कैसे देखें ? तो संत शास्त्र विधि बताते हैं कि प्रत्येक दृश्य द्रष्टा से ही दिखाई पड़ते हैं । जब कोई दृश्य दिखाई देवे तब आप ही द्रष्टा है । आत्मा को देखने का मार्ग है दृश्य रूप में द्रष्टा को देखना । ''***जाग पेखन हम देखन हारे***'' जब भी कोई दिखाई पड़े, अथवा कुछ भी नजर आवे, तब आप द्रष्टा तो रहते ही हैं । क्योंकि बिना द्रष्टा के कोई दृश्य का दर्शन होता ही नहीं है । जब आप जो कुछ भी देखते हैं तब द्रष्टा मौजूद है या नहीं ? किन्तु जब आप दृश्य देखते हैं तब आपकी भूल यह रह जाती है कि आपकी दृष्टि दृश्य में ही अटक जाती है, द्रष्टा का भान ही नहीं रहता । प्रतिबिम्ब देखते समय दिखाने वाले दर्पण को भूल ही जाते हैं । जब कुछ भी देख रहे हो तब यह अवश्य ध्यान रखो, याद रखो कि आप हैं अर्थात् मैं हूँ ।

''सर्वं खल्विदं ब्रह्म''

साक्षी स्वयं वह आंख है जा सदा देखता ही रहता है उसे कभी अज्ञात बेहोश नहीं पाओगे । जो भी शुभाशुभ अनुकूल-प्रतिकूल होता है उसे साक्षी जानता ही रहता है ।

राम झरोखे बैठि के सबका मुजरा लेय ।
जैसी जाकी चाकरी तैसाही फल देय ।।

अर्थात् ''सर्वधी साक्षी भूतम्'' परमात्मा सब के अन्तःकरण का प्रकाशक है । उससे जीव के कोई भी कर्म छुपे नहीं रह सकते ।

साक्षी का कभी अभाव नहीं होता है । यदि वृत्ति नहीं रहेगी तो वहाँ द्रष्टा नहीं रहेगा । समाधि व सुषुप्ति में वृत्ति नहीं है तो वहाँ द्रष्टा भी नहीं है ।

बिना वृत्तिके वहाँ साक्षी कैसे प्रकाशित करेगा ? साक्षी देखेगा ही क्या ? किन्तु समाधि, सुषुप्ति अथवा ध्यानावस्था में वृत्तिके बिना भी साक्षी विद्यमान रहता है । साक्षी के बिना ध्यान, समाधि, सुषुप्ति को कौन प्रकाशित करेगा ? कोई नहीं ।

जब साक्षी के समक्ष अहं वृत्ति नहीं होगी तो अकेला साक्षी किसे प्रकाशित करेगा ? इसलिए निर्विकल्पावस्था में ज्ञान का विषय नहीं होता किन्तु ज्ञान का अन्त नहीं होता । साक्षी को चैतन्यता सत्यता आनन्दता का कभी अभाव नहीं हो सकता । पदार्थ हट गया तो वृत्ति वहाँ नहीं जाती किन्तु ज्ञान या चैतन्य का अभाव नहीं होता वह सदा विद्यमान ही रहता है । जैसे बल्ब फ्यूज (खराब) हो गया तब भी बिजली वहाँ मौजूद है किन्तु से प्रकाश न रहने से अज्ञानी कहता है कि बिजली नहीं रही । इसी प्रकार विषय के न होने से विषयाकार वृत्ति नहीं रहती किन्तु ज्ञान नित्य है । परन्तु अज्ञानी समझेगा ज्ञान लीन हो गया ।

वृत्ति के माध्यम से जो जाना जाता है वह आभास भाष्य कहलाता है एवं बिना वृत्ति के जो जाना जाता है वह साक्षी भाष्य कहलाता है । *जब चैतन्य चिदाभास होकर जाने उसे द्रष्टा कहते हैं एवं जब चैतन्य चिदाभास बिना जाने उसे साक्षी कहते हैं ।* जाग्रत, स्वप्न, साक्षी ही प्रकाशता है, किन्तु चिदाभास के माध्यम से इसलिये यह अवस्था आभास भास्य कहलाती है । किन्तु सुषुप्ति, समाधि सीधा साक्षी द्वारा बिना आभास के प्रकाशित होती है, इसलिये इन्हें साक्षीभास कहते हैं ।

● ॐ ●

निरुपाधिक ब्रह्म

जिस ओर अन्तःकरण की वृत्ति आभास सहित जाती है वह दृश्य विषय द्रष्टा द्वारा जाना जाता है । अकेले साक्षी उस विषय को सीधा बिना द्रष्टा के नहीं जान पाते हैं । जब चिदाभास सहित वृत्ति वहाँ से हट जाती है तो वह विषय द्रष्टा के बिना जाना नहीं जासकता । इसका मतलब यह है कि –

द्रष्टा और साक्षी में बहुत सूक्ष्म अन्तर है, यदि यह नहीं समझ सके तो वेदान्त प्रतिपादित निरुपाधिक ब्रह्म स्वरूप नहीं समझ सकोंगे ।

जगत् की प्रतीति सीधा मुझ साक्षी से नहीं होती प्रत्युत वृत्तियों के द्वारा होती है और वृत्तियों की अनुभूति मुझ साक्षी को होती है । अन्तःकरण के माध्यम से जो जाना जाता है तब मुझ ब्रह्म की उपाधि अन्तःकरण होने से मैं ही वह द्रष्टा कहलाता है । किन्तु बिना वृत्ति के जो सुषुप्ति में आनन्द व अज्ञान भास रहा है उसे साक्षी भाष्य कहते हैं । मुझ चैतन्य आत्मा का ज्ञान स्वभाव जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, मुच्छा, ध्यान, समाधि में समान रहता है । एवं जो अन्तःकरण का धर्म जो पदार्थ ज्ञान है वह अन्तःकरण के होने से ही प्रकट होगा । क्योंकि जगत् की प्रतीति केवल मुझ साक्षी आत्मा से नहीं किन्तु अन्तःकरण के माध्यम से होती है । अन्तःकरण गहरी नींद में नहीं होता इसलिए वहाँ कुछ दृश्यानुभूति नहीं होती है । चैतन्यात्मा सदा निर्लेप रहता है ।

जैसे सूर्य का सामान्य प्रकाश शीशे को प्रकाशित करते समय वहाँ उज्जवलता उपाधि के कारण विशेष रूप से प्रतिविम्बित होता है एवं लकड़ी, ईंट, पत्थर, दीवार, पशु, व्यक्ति, कपड़ादि सबको सामान्य रूप से प्रकाशित करता है । सूर्य, प्रकाश जब दर्पण से टकराता है तब वहाँ विशेष प्रतिविम्बित हो जिस ओर दर्पण होगा उस वस्तु या व्यक्ति को विशेष रूप से प्रकाशित करता है यह विशेष रूप से प्रकाशित करने का धर्म सूर्य का नहीं किन्तु दर्पण

का है । इसी प्रकार सामान्य चैतन्य में आत्मा, जगत् में सर्वत्र रहता हुआ जगत् को स्वयं विशेष रूप से प्रकाशित नहीं कर पाता है । किन्तु जब मुझ चैतन्य को अन्तःकरण दर्पण का सहयोग मिल जाता है तब वह दृश्य विषयों को विशेष रूप से प्रकाशित करता है । ट्रेन लाइन, पटरी इधर-उधर, आगे-पिछे नहीं होती, ट्रेन ही इधर-उधर, आगे-पिछे गति करती है, इसी तरह चैतन्य, साक्षी, व्यापक एवं अचल होने से आगे पीछे, दाँए-बाँए नहीं होता है, वह तो अचल है सूर्यवत्, केवल दर्पणवत् दृष्टि वृत्ति ही हटती है एवं जिधर वे होती है उसी विषय वस्तु की प्रकाशित करती है । अन्तःकरण को मिलाकर जब हम जानते हैं तब हम द्रष्टा कहलाते हैं । अन्तःकरण बिना, सुषुप्ति, ध्यान व समाधि को प्रकाशित करने से हम साक्षी कहलाते हैं । हम सदा द्रष्टा नहीं कहलाते हैं । क्योंकि वृत्तियां जब विषय से लौट आती है तब हम बिना दृश्य विषय के किसके द्रष्टा बनेंगे ? जैसे जब पुत्र नहीं तो हम पिता कैसे कहला सकेंगे ? धर्मी का धर्म नित्य होता है । चैतन्य नित्य होने से उसका स्वभाव भी नित्य रहेगा एवं वृत्तियाँ अनित्य होने से उनका धर्म भी क्षणिक होगा । जो अन्तःकरण का धर्म होगा वह उसके विद्यमान होने पर ही रहेगा एवं जो चैतन्य का धर्म है वह बिना अन्तःकरण के भी सर्वदा रहेगा । जैसे दर्पण का धर्म विशेष प्रकाश एवं प्रतिविम्ब यह दोनों बातें दर्पण के रहने पर ही होगी किन्तु सूर्य का धर्म सामान्य प्रकाश तो दर्पण न रहने पर भी होगा । अतः जगत् की प्रतीति केवल साक्षी आत्मा से नहीं बल्कि अन्तःकरण सहित द्रष्टा से होती है । एक ही समय वृत्ति में साक्षी एवं आभास भी है । जैसे जिस समय दर्पण पर सूर्य का प्रतिविम्ब पड़ रहा है उसी समय दर्पण से तेज प्रकाश भी प्रतिविम्बित होता रहता है ।

● ॐ ●

असली-नकली मैं

हम बारम्बार बदलने वाले मैं को ही अपना स्वरूप जानते है, किन्तु बार–बार बदलने वाला वह नकली मैं, सत्य मैं कभी नहीं हो सकता । जैसे कि मैं पापी, मैं धर्मात्मा, मैं सुखी, मैं दुःखी, मैं स्वस्थ, मैं अस्वस्थ, मैं चंचल, मैं शान्त यह जो बारम्बार 'मैं' बदलता है यह वृत्ति में पड़ने वाले चिदाभास का धर्म है । किन्तु वृत्ति का प्रकाशक जो एकरस आत्मा है वह शुद्ध मैं है । अज्ञान के कारण हम शुद्ध चैतन्य को मिथ्या आभास मान लेते हैं एवं मिथ्या चिदाभास अन्तःकरण के धर्मों को मैं मान लेने से दुःखी–सुखी होने का आरोप अपने शुद्ध स्वरूप में कर लेते हैं जिसके कारण ही जीव संसार चक्र में भ्रमित होता रहता है । जैसा की उपनिषद में बतलाया है कि एक वृक्ष पर दो पक्षी साथ–साथ रहते हैं जिसमें एक पक्षी तो मात्र देखता रहता है एवं दूसरा पक्षी उस वृक्ष के फलों को भोगता है । यही मैं के दो रूप इस शरीर वृक्ष में हैं । देखने वाला मैं असली है एवं भोगने वाला मेरा आभास रूप जीव नकली मैं है ।

''आकर चार लाख चौरासी,
योनि भ्रमत यह जीव अविनाशी''

एक चैतन्य एवं चेतनता इस प्रकार दो चैतन्य हैं । वृत्ति द्वारा विषयों के ज्ञान को चेतनता कहेंगे एवं बिना वृत्ति के जो एक रस प्रकाशक साक्षी है वह चैतन्य मात्र है । साक्षी ब्रह्म एक एवं अचल है उसे किसी साधन द्वारा हमें एक करना नहीं है । ब्रह्म वृत्तियों का प्रकाशक होने से वह साक्षी कहलाता है किन्तु वही ब्रह्म विषयों को वृत्ति के द्वारा प्रकाशित करता है इसलिए तब वह ब्रह्म ही द्रष्टा कहलाता है । बिना अन्तःकरण के सुषुप्ति में चैतन्य रहता है किन्तु तब कोई विषय भान नहीं होता है, जैसा कि जाग्रत काल में विशेष रूप से देखने, सुनने, बोलने, चलने, उठने, बैठने की अनुभूति होती रहती है । साक्षी चैतन्य, समीप तथा उदासीन स्वभाव वाला होने से सूर्यवत् सर्वत्र

समान प्रकाश करता है । जब सुषुप्ति, मूर्च्छा, बेहोशी अवस्थाओं मे चिदाभास अन्त:करण जाग्रत नहीं रहता है तब वहाँ अकेला चैतन्य देह संघात् के कार्यों को नहीं बतायेगा । क्योंकि देह, इन्द्रिय, प्राणादि का प्रकाशक चिदात्मा नहीं है बल्कि चिदाभास अन्तःकरण की वृत्ति है । चैतन्य आत्मा देह का प्रकाशक द्रष्टा नहीं है बल्कि चिदाभास जीव ही देह का द्रष्टा व प्रकाश है । जैसे सूर्य किसी की आँख को चका चौंध नहीं करता तथा रूई, कागजादि को भी जलाने का काम नहीं करता वह तो सामान्य ताप प्रकाश युक्त सर्वत्र है किन्तु दर्पण या सूर्य कान्त मणि ही उस प्रकाश एवं जलाने के विशेष कार्य को कार्य करती है ।

आत्मा सुषुप्त अवस्था में तथा शव में भी समान रूप से रहती है किन्तु जाग्रतावस्था जैसी क्रिया रूप विशेष चेतना वहाँ नहीं भासती है । क्योंकि यह कार्य क्षमता अन्त:करण उपहित चैतन्य का विशेष धर्म है अर्थात् चिदाभास का धर्म है । अन्त:करण को प्रकाशित करने वाला सामान्य चैतन्य कहलाता है तथा अन्तःकरण उपहित चैतन्य से जो दृश्य जगत् भासता है वह विशेष चेतन कहलाता है एवं उसीसे देह संघात् की समस्त क्रियाएँ होती रहती है । सामान्य चैतन्य जो देह, इन्द्रिय, प्राण एवं मनादि में विद्यमान होता है वह देखने, सुनने, चलने, बोलने का कार्य नहीं करता है । जैसे सब जगह रहने वाला सामान्य प्रकाश जलाने या विशेष प्रकाश करने का काम नहीं करता है वह तो सौपाधिक दर्पण एवं मणि का कार्य है । सामान्य चैतन्य सर्वत्र निष्क्रिय निर्विकार सूर्य प्रकाशवत् है ।

● ॐ ●

सर्व निवासी सदा अलेपा

सामान्य चैतन्य ब्रह्म आँख, कान, नाक, जिह्वा घ्राण में भी है किन्तु

वहाँ उनके शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध विषयों को बिना अन्तःकरण (मन) के न ग्रहण करता है, और जानता भी नहीं है जब अन्तःकरण उपहित चेतन की वृत्ति श्रोत्र द्वार पर उपस्थित होती है तब वहाँ टकराने वाली ध्वनि का शब्द रूप में अनुवाद करके जीव सुन पाता है । नेत्र द्वार से जब मनोवृत्ति बाहर आकर रूप पर टकराती है तब विषय चैतन्य एवं अन्त:करण उपहित चैतन्य के एकत्व से रूप का ज्ञान होता है । इसलिए इन पांच विषयों का ज्ञान सीधा साक्षी भाष्य नहीं है बल्कि आभास (चिदाभास) भाष्य है । चैतन्य केवल अन्त:करण को ही प्रकाशित करता है, सीधा विषयों को प्रकाशीत नहीं करता है । फिर अन्तःकरण प्रकाशित होकर दृश्य जगत् को उसी प्रकार प्रकाशित करने लगता है जैसे दर्पण सूर्य से प्रकाशित होकर फिर किसी अन्धकार गुफा की ओर करने से उस गुफा कंदरा को प्रकाशित करता है । अतवा जैसे सूर्य से प्रथम चन्द्रमा प्रकाशित होकर फिर वह रात्रि को पृथ्वी को प्रकाशित कर दिखाता है । जिस ओर दर्पण घूमता जावेगा उस ओर प्रकाश होता जावेगा सूर्य नहीं घूमता है इसी प्रकार जिधर-जिधर वृत्तियाँ घूम जाती है वही विषय प्रकाशित हो जाता है साक्षी अचल, कूटस्थ, व्यापक है वह नहीं बदलता है । जो कभी नहीं बदलता वह अचल, अखंड, निष्क्रिय, निर्विकार सामान्य चैतन्य ही हमारा तुम्हारा असली स्वरूप है ।

● ॐ ●

मन-तरंग

ब्रह्म एवं मन माया में इतना ही भेद है कि बह्म जब संसार में भ्रमण करता होता है तब वह माया रूप हो जाता है एवं जब वह मन माया स्वरूप लीन हो जाता है तब वह ब्रह्मरूप प्रतीत होता है ।

जल जब उत्तेजित होता है तब वह भयंकर लहरों के रूप में प्रतीत

होता है एवं जब लहरें शान्त होती हैं तब वह जल रूप में प्रतीत होता है । अथवा जल जम जाने पर हिम (बर्फ) रूप भासता है एवं हिम पिघल जाने से केवल सामान्य जल ही होता है ।

विचारों की लहर ही मन है एवं मन लहर की शान्तावस्था ही आनन्द सागर है । ध्यान करने वाले जब मन को शान्त देखते हैं तब उन्हें प्रशान्त ब्रह्मानन्द का साक्षात्कार हो जाता है । निर्विकल्पता का बोध आत्मा के प्रति जग जाता है । इसलिए निर्विचारता का बोध ही समस्त धर्मों का सार है, जो ध्यान का फल है । जैसे ही निर्विचारता का जन्म ध्यान द्वारा होगा वैसे ही जो शक्ति मन के द्वारा विचार बनकर खो रही थी अन्त में वह संग्रहित शक्ति आत्म समुद्र में गिरने लगेगी । सारा खेल मन का है जब विचार बन जाते हैं तब आत्म समुद्र के अन्दर लहरें बन जाती है एवं जब मन ध्यानरूप हो जाता है तो सागर बन जाता है । मन से ही बन्धन है मन से ही मुक्ति प्राप्त होगी । मन से ही जीव हुए हो, मन से ही शिवत्व का अनुभव होगा । मन से ही भिखारी बने हो, मन से ही सम्राट होने का बोध जाग्रत होगा ।

मन का ही सब खेल है । मार्ग विधि भी वही है एवं मंजिल भी वही है । पाना भी उसी से है पाना भी उसी को है ।

सवाल शरीर से कुछ करने का नहीं है । सभी साधन होश में आने के लिये हैं । चाहे तुम शीर्षासन करो, बन्ध लगाओ, प्राणायाम करो, सिद्धासन, पद्मासन करो शरीर को कितना ही मोड़ो-तोड़ो, सर्कस वालों कि तरह किन्तु यह बात कोई महत्व पूर्ण नहीं है, इससे सत्य का कोई सम्बन्ध नहीं, महत्वपूर्ण है हम सदा साक्षी भाव में जागते रहें, होश में रहें । फिर चाहे बाजार जावें, शहर में रहें, फैक्ट्री चलावें, विवाह करें, बच्चे हों, किन्तु ध्यान स्वरूप का न छूटे ''गागर पनिहार वत'' ।

● ॐ ●

समत्व योग

मन घड़ी के पैंड्लम की भांति दाँये–बाँये की अति तक पहुँचता है । मध्य में नहीं रुकता । मध्य में रुक जावे तो घड़ी बंद हो जावेगी इसी प्रकार । मन या तो भोग में अति पर पहुँचता है या फिर त्याग की अति पर जाता है । मध्य में साक्षी बन रुकना नहीं आता । मनुष्य या तो भोजन ग्रहण करने की अति पर पहुँचेगा या उपवास की अति पर पहुँचेगा । मनुष्य या तो बोलने की अति पर पहुँचता है या फिर मौन ही हो जाता है । क्या सम्यक् आहार, निद्रा, वचन तथा कर्म सम्भव नहीं हो सकता ?

लोग स्त्रियों के पिछे भाग रहे हैं । तो संन्यासी स्त्रियों से भाग रहे हैं, देखना, छुना भी नहीं चाहते हैं । संसारी धन संग्रह में लगा है तो संन्यासी रुपया, सोना का स्पर्श भी नहीं करता, जैसे सम्यक होना असम्भवसा हो गया है । संसारी घड़ी के बाँये पैंड्लम हो गये हैं, तो संन्यासी घड़ी के दाँये पैंड्लम हो गये हैं, मध्य में ठहरना तो आता ही नहीं । जब सम्यक् हो जाएगा, बीच में ठहर जावेगा । जब जीव द्रष्टा साक्षी भाव में ठहर जावेगा तब ही मुक्ति का अनुभव कर सकेगा ।

धन, वाणी, परिवार, साधन का सम्यक् उपयोग करना ही मुक्ति है एवं असम्यक् प्रयोग भोग करना ही दुःख का कारण है । न तो धन, जन में मोह करना है न भयभीत हो भागना है ।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन् स्थितो न दुःखे न गुरुणापि विचाल्यते ।।

– गीता : ६/२२

परमात्मा की प्राप्ति रूप जिस लाभ को प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी श्रेष्ठ, बहुमूल्य लाभ नहीं मानता और परमात्मा प्राप्ति रूप

जिस अवस्था में स्थित योगी बड़े भारी दुःख से भी विचलित नहीं होता है ।

तं विद्याद् दुःख संयोग वियोगं योग संज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्त यो योगोऽनिर्विण्णचैतसा ।।

– गीता : ६/२३

जो दुःख रूप संसार के संयोग से रहित तथा परमानन्द स्वरूप है उस योग को जानना चाहिये । वह योग सन्तोष, धैर्य तथा उत्साहयुक्त निश्चय पूर्वक करना कर्तव्य है ।

युक्ताहार विहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्त स्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ।

– गीता : ६/१७

दुःखों का नाश करने वाला योग तो यथा योग्य सम्यक् प्रकार से आहार–विहार करने वाले का, कर्मों में यथा योग्य चेष्टा करने वाले का और यथा योग्य शयन तथा जागने वाले का ही सिद्ध होता है ।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ।।

– गीता : ६/१६

हे अर्जुन ! यह योग न तो बहुत खाने वाले का न बिल्कुल न खाने वाले का, न बहुत शयन करने के स्वभाव वाले का और न सदा जागने वाले का ही सिद्ध होता है ।

समता आने से ही शान्ति उदय होती है । उसके बिना जीवन में शान्ति नहीं होती तथा समता बिना साक्षी–भाव जाग्रत नहीं होता है ।

''बिन विज्ञान के समता आवहि''

सम्यकत्व ही मन की मृत्यु है इस सम्यकत्व को ही सच्चा योग नाम से गीता में कहा है ।

योगस्थः कुरु कर्माणी संगत्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्धय सिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।।

– गीता : २/४८

हे आत्मन् ! तू जो भी कर्म करना चाहता है तो उस कर्म के पूर्ण होने और न होने पर उसके फल में समान भाव अर्थात् साक्षी भाव रख । उस कर्म के सफल होने में हर्ष एवं विफल होने में शोक को प्राप्त न होना ही समत्व योग है ।

ऐसे हठ योगी भी हैं जो संकल्प द्वारा नाड़ी की गति को बन्द कर दिखा देते हैं । डाक्टर जिसे मृत घोषित कर देता है; क्योंकि हृदय की गति बंद है किन्तु ऐसे सिद्ध, योगी,तान्त्रिक सर्कस खेल के मनोरंजन के काम के हैं । जादूगरों की श्रेणी के हैं । कोई जमीन में गड्ढा कर ३० दिन ५० दिन कोई पड़ा रह जाता है जहाँ थोड़ा अक्सीजन जीने के लिये नहीं होता है । किन्तु उस योगी के गुफा से निकलने पर उसकी आँख में कोई ब्रह्मतेज या उसके जीवन में शान्ति नहीं झलकती है । क्योंकि उसका यह योग यश, शिष्य तथा धन प्राप्त कर आश्रम बनाने के लिये था ।

● ॐ ●

जगत् बना है मन से

मन ही संसार है । पदार्थ संसार नहीं है । लोग संसार के पदार्थों को छोड़ घर बाहर भागते हैं, किन्तु संसार तो उनके साथ ही चलता रहता है । गृहस्थ संसार के पदार्थों को छोड़ कोई संन्यासी हो जाता है किन्तु फिर वह

संन्यासी एकान्त जंगल में भी आश्रम, बगीचा, कुआँ, काष्ठ, अन्न, गाय, कुत्ता, बिल्ली तथा शिष्यों का संसार खड़ा कर लेता है । अज्ञानी सोचते हैं, जगत् बाहर है उससे प्रेम नहीं करना चाहिये । इसलिए कोई लिंग में ताला लगा लेते हैं, कोई कान में रुई या मिट्टी लगा सुनना बंद कर देते हैं । कोई हाथ से स्वर्ण, रुपये स्पर्श नहीं करते हैं, तो कोई नेत्र से स्त्री को नहीं देखते हैं, स्त्री को स्पर्श नहीं करने देते हैं । तो कोई नीम पत्ते खाते हैं तो कोई नमक-मिर्च रहित भोजन करते हैं । वे सोचते हैं इन सबके न होने से मुक्त हो जावेंगे । किन्तु याद रखो ! संसार तुम्हारे मन में है, भूख तुम्हारे प्राण में रस तुम्हारे मन में है । संसार के पदार्थ तो उसका भोग मात्र है । भोक्ता को भूख न लगे तो भोज्य पदार्थ कितने ही सुन्दर, स्वादिष्ट सम्मुख क्योंन रखे हों, तो भी उधर देखने, छूने, सूंघने, खाने की इच्छा नहीं होगी । बाहर वाले पदार्थ स्वतः किसी के ऊपर आकर नहीं गिरते हैं, न वे यह कहते हैं कि देखो हम कितने सुन्दर, स्वादिष्ट हैं, हमें एक बार भोग कर, खाकर, छूकर, सूंघकर तो देखो । नहीं खाओगे, नहीं भोगोगे तो पछताओगे । तो संसार हमारे मन में हैं । संसार हमारे मन का खेल है । अतः पदार्थों को त्यागने से कुछ नहीं होगा अपने मन को सभालो ।

कहानी सुनी होगी भक्तों की परीक्षा भगवान लेते हैं । इन्द्र अप्सराएँ भेजता है, उन्हें डिगाने हेतु । तुम इस भ्रांति को मत स्वीकार कर लेना । अपने दोषी मन को बचाने की छलना है । न कहाँ कोई इन्द्र है, न स्वर्ग, न अप्सराएँ , न कोई ऐसा परमात्मा का डिपार्टमेंट है जो तुम्हें स्थिरता से डिगावे । क्यों करेगा परमात्मा किसी को डिगाने की व्यवस्था ? क्या डर है परमात्मा को, इन्द्र को तुमसे ? क्या समुद्र नदियों को अपनी ओर आने से विचलित करेगा ? कितनी ही नदी समुद्र में मिल जावें उसमें कोई फर्क, अन्तर नहीं पड़ता है । ऋषि, मुनि, साधक, भक्त, योगी स्वयं ही अपने मन के स्वर्ग एवं अप्सराओं से विचलीत हो जाते हैं । ऋषि मुनि खुद ही हिल रहे

हैं । अन्यथा जिन ऋषि मुनियों का शरीर एक हड्डी का ढाँचा मात्र रहगया है । शरीर पर पसीना, मैल, धूल चढ़ गयी है । बालों में जुएं पड़ गई है शरीर से बद्बु उठ रही है वहाँ अप्सराएँ, मेनका, उर्वशी जैसी सुन्दर नारी के लिये क्या आकर्षण रह गया है जो उनको ध्यान से विचलित करगी ।

● ॐ ●

पदार्थ नहीं बांधते

संसार के क्षेत्र में असफल होने पर मन में क्षण भंगुर वैराग्योदय हो जाने पर जो–जो पदार्थों को उन्होंने संसार में रहते समय अपने सुख रूप जान प्राप्त किया था, बनाया था, पैदा किया था अब गृह त्यागते समय वह सामान तो वे गांव में ही अवश्य छोड़ आते हैं, किन्तु उनका इन्जीनियर, कान्ट्राक्टर मन तो अब भी जंगल में साथ ही ले आये हैं । वह वहाँ भी नूतन रूप देकर शीघ्र सब अनुकूलता एवं सामान तैयार कर लेगा । जैसे सर्कस वाले जहाँ भी जावें वे अपना झूला, तम्बू, रस्सी सामान साथ ही लिये चलते हैं, वे तत्काल वहाँ जाकर भी खूंटी ठोक तम्बु तानकर अपना बाजार सजा लेंगे । तुम्हारे भीतर नक्शा सदा साथ रहता है । तुम अपने जैसा संसार अपने चारों तरफ शीघ्र ही निर्मित कर लोगे । अपना संसार हर व्यक्ति अपने चारों तरफ कपड़े की तरह लपेटे ही घूम रहा है । उसके लिये पहाड़, गुफा, जंगल क्या बाधा बन सकेंगे ? नहीं वह सब अनुकूलता स्वयं बना लेगा । व्यक्ति उस संसार को छोड़ देता है जो बाहर है किन्तु उस संसार को पकड़े रहता है जो भीतर है । घर–गांव छोड़ने वाले पशु, खेती, मकान, सामान बेच खाली जाते हुए से तो दिखते हैं, किन्तु जिससे सामान, पशु, जमीन, मकान खरीदे, बनाये जाते हैं, वह रुपया सोना तो साथ छुपाये सीने से चिपटाये ही चलते हैं । फिर जहाँ उपयुक्त वातावरण मिला वहीं वे जमीन, मकान, सामान एक माह में खडा

कर लेते हैं । तुम हिमालय की गुफा में भी पहुँच जाओगे तो भी तुम तो वही रहोगे जो घर, ग्राम, परिवार में थे । तुम तो नहीं बदले वृक्ष, पड़ोसी, साथी, सामान ही बदले हैं । न धन में कुछ है न पत्नी में कुछ है सब कुछ हमारे मन में ही है । नक्शा अन्दर छिपा है, निगेटिव तैयार है कि संसार कैसा बनाया जावे । इसीलिए तो अधिकांश महात्मा रात-दिन वकील कोर्ट के कटघरे में खड़े होते रहते हैं । आधुनिक सभी सुविधा युक्त वातानुकूल होटेल की तरह आश्रम बना लेते हैं ।

संसार को देखने का ढंग है । कोई पत्थरों, वृक्षों, पशु-पक्षी सहित सियाराम मय, कोई श्याम मय, कोई ब्रह्ममय देखता है । तो कोई मनुष्य रूप में भी परमात्मा को नहीं देख पाता है । तुम वही देखते हो जो तुम्हारे मन की धारणाएँ हैं । तुम वह नहीं देख पाते जो तुम्हारे चारों ओर सर्वदा विद्यमान है ।

जाकी रही कल्पना जैसी ।
प्रभू मूरत देखी तिन तैसी ।।

जब तुम आनन्दमय होते हो तब जगत् चारों ओर तुम्हें मुस्कराते हुए दिखता है एवं जब तुम काम, क्रोध, लोभ से ग्रसित होते हो तब तुम्हे सारा जगत् भी अपनी तरह कामी, क्रोधी ही दिखाई पड़ता है । याद रखें ! जगत् तो मात्र दर्पण है । जो तुम्हारे मन में है वही तो जगत् दर्पण में प्रतिविम्ब पड़ता है । जो तुम्हारे मन में कल्पना नहीं है उस विषय, विचार, भाव का अन्य के प्रति तुम कैसे सोच सकोगे ? जिसे तुमने कभी जाना नहीं, भोगा नहीं, जिसके बारे में तुमने कभी सोचा भी नहीं, वह बात अन्य के मन में होगी यह तुम कभी सोच भी नहीं सकोगे ।

● ॐ ●

संसार भीतर है

जिस दिन तुम इस सत्य को देख सकोगे कि संसार तुम्हारे भीतर है । जिसे तुम छोड़कर जंगल में भाग रहे हो वह संसार नहीं है, इसलिए सवाल बाहर के पदार्थ को छोड़कर जंगलों में भागने का नहीं है । सवाल मन में बसे संसार को त्यागने का है । भीतर का संसार जिस दिन छूट जावेगा, उसी क्षण वहीं तुम संन्यासी हो । फिर चाहे झोपड़ी में रहो या महल में । ब्रह्मचारी रहो या गृहस्थी । त्यागी रहो या भोगी । पदार्थों के होने न होने से तुम्हारे संन्यास में कोई फर्क नहीं पड़ेगा । क्योंकि अब तुम्हारे भीतर से संसार के प्रति सत्य एवं सुख बुद्धि का भ्रानित सूत्र हट चुका है तुम अंन्धकार से निकल प्रकाश में आ गये हो ।

ना समझ बाहर के जगत् को छोड़ भागे फिरते हैं । स्त्री को छोड़ भाग रहे हैं । स्वर्ण को छोड़ भाग रहे हैं । क्या बिगाड़ा है तुम्हारा बेचारी स्त्री ने, जड़ स्वर्ण ने, घर ने, पदार्थों ने ? यदि यह सब पदार्थ छोड़ना ही मुक्ति होती तो आज दुनिया के अधिकांश गरीब मुक्ति को प्राप्त कर लेते । धन सम्पत्ति, हीरा, मोती, स्वर्ण, मांस, अंड़ा, शराब, सिगारेट, गांजा, ड्रग्स आदि ने स्वयं को मूल्य एवं महत्व नहीं दिया है । हमने उनमें महत्व बुद्धि की है और अपनाया है, गले में लटकाया है । यदि हम उसमें मृत्यु की भावना, दुःख, बंधन की भावना कर लें तो फिर वे हमारे मन से हट जावेंगे फिर न हम पर वे कब्जा कर सकेंगे, न हमें उन्हें देख डरकर भागने की जरूरत रहेगी । आज भी कई ऐसे जंगली लोग हैं, जिन्हें स्वर्ण के प्रति किंचित् भी महत् बुद्धि नहीं है । वे सम्मुख पड़े अलंकार या स्वर्ण के टुकड़े को देख उठावेंगे भी नहीं । क्योंकि उनके मन में स्वर्ण के प्रति महत्वाकांक्षा बुद्धि नहीं है । अतः संसार के पदार्थों में दोष नहीं है । दोष हमारे मन में है, वह है उनके प्रति, सत्य एवं

सुख बुद्धि का राग । जब मन वीतराग हो जाता है तब हम संन्यस्थ ही हैं । भागना कहीं नहीं है । तुम जहाँ भी हो वहीं से अपने मन की वासना के जाल को समेट लो । स्वर्ण अपनी जगह पड़ा है, पड़ा रहेगा, वह तुम्हारी प्रतिक्षा में भी नहीं है । उसने तुम्हें निमन्त्रण भी नहीं दिया है कि आओ और मुझे उठाकर गले से लगाओ मैं दुकान में, आल्मारी में, रास्ते में अकेले पड़ा हूँ । पदार्थ, त्याग की उल्टी चाल मत चलना अन्यथा भटक जाओगे, सत्य को तुम नहीं पा सकोगे । तुम्हारे पास स्त्री, पति, पुत्र, धन, मकान, नौकर, कार के होने से परमात्मा को कोई कष्ट या विरोध नहीं । परमात्मा को भी मन्दिर, अलंकार, वेश, मिष्टान्न, खान-पान, संगीत आदिके साथ रहने में कोई आपत्ति नहीं है । तुमने अपने ममता का जो जाल फैलाया है उसे तुम्हें ही समेटना होगा । भगवान भी नहीं समेट सकेगा । क्योंकि उसे पता भी नहीं है कि तुमने अपनी ममता के जाल को कितना एवं कहाँ-कहाँ फैला रखा है ।

व्यक्ति, जमीन, मकान, स्वर्ण, हीरे के लिये ममता करते हैं, वर्षों उनके साथ जीते हैं, शरीर से बांधे रहते हैं । किन्तु जब वे कब्जा करने वाले उन्हें छोड़ मर जाते हैं, तब उन-उन वस्तुओं, पदार्थों, जमीन, मकान, अलंकारों को आपके मरजाने पर या आप से बिदाई लेने पर न रोना आता है न प्रसन्नता न वे चिन्तित, बैचेन होते हैं । उनके लिये यह सब जैसे कुछ हुआ ही नहीं इस प्रकार वे अपने आप साक्षी रूप से स्थित ही रहते हैं । हीरे, आभूषण, मकान हमारे लिये पछतावेंगे नहीं । याद भी नहीं करेंगे । भूमि के एक-एक गज के नीचे करोड़ों लाशों की मिट्टी एवं हड्डी पड़ी हैं । दिल्ली का लालकिला, कोहीनूर हीरा, अपने किस-किस सम्राट की याद कर रोयेंगे ? सब यही पड़ा रह जाता है न कुछ स्थूल धन, जन लेकर आते हो न कुछ यहाँ से कोई ले जा सकोगे ।

● ॐ ●

सीप में चाँदी भ्रम

यह जगत् माया मात्र है । जो है नहीं किन्तु बिल्कुल मृग मरीचिका नीरवत् सत्यसा दिखाई पड़त है वह माया है । जो है किन्तु दिखलाई नहीं पड़ता वह परमात्मा है ।

माया का ब्रह्म के साथ सजातिय या विजातिय कोई सम्बन्ध नहीं, जैसे सूर्य का अंधकार से कोई सम्बन्ध नहीं । माया तुम्हारे मन में है । जैसे-जैसे विवेक होगा, बेहोशी भीतर की टूटेगी एवं साक्षी भाव जाग्रत होगा । माया तुम्हारे बेहोशी की कला का नाम है । हीरे, स्वर्ण, स्त्री, सौन्दर्य, स्वाद केवल तुम्हारे मन की माया है, उनमें अपनी सत्ता सिद्ध करने की सामर्थ्य नहीं है ।

''मैं अरु मोर तोर ते माया''

अगर माया ब्रह्म का स्वभाव होगा तो आप उसे ब्रह्म के रहते हुए कैसे बिदा कर सकोगे ? जैसे अग्नि की उष्ण प्रकृति को कौन तिरोहित कर सकेगा ? माया जीव का अपना मनोभाव है । वह उसे हटा सकता है । माया तुम्हारे मन की छाया है । साक्षी भाव बढ़ते ही मन की माया समाप्त हो जाती है । सीप में रजत, रस्सी में सर्प, चन्द्रमा में मृग, स्वप्न में पदार्थ, पर्दे पर या टि.वि. पर चित्र की तरह आत्मा में जगत् का भ्रम है ।

मन में पदार्थों के प्रति आसक्ति है इसी कारण उनके होने में प्रसन्नता एवं न होने में दुःख होता है । पदार्थों में सुख-दुःख देने की सामर्थ्य नहीं है । कुत्ता, सूअर टट्टी खा जावे, बिल्ली चूहा पकड़ ले जावे खुशी होती हे किन्तु बिल्ली, कुत्ता, आपका भोजन खा जावे, घर का तोता खा जावे तो दुःख होता है । तुम पत्नी, पति, पुत्र, धन में बंधे हो तुम सोचते हो इसमें हमारा सुख है । तो जब वह सब न रहेंगे, तुम छाती पीटने लगोगे, रोने, चिल्लाने लगोगे ।

परमात्मा को भी गाली देने लगोगे कि मेरे साथ ही यह अन्याय । मैं रोज पूजा, माला, ध्यान, पाठ करता था मेरे ही बच्चे,स्त्री,पति, को छीन लिया, मेरे ही घर में चोरी करा दी ।

"सुख सम्पत्ति घर आवे कष्ट मिटे तनका"

तुम सुख चाहते हो इसलिए तुम दुःख पा रहे हो जिस दिन दुःख के लिये राजी हो जाओगे उसी दिन अपने को अनायास सुखी पाओगे । इसी प्रकार परमात्मा को तुम दौड़कर नहीं पा सकोगे । शांत हो बैठ जाओ तो तत्काल अपने रूप में ही पा जाओगे ।

● ॐ ●

सम्प्रदाय धर्म नहीं

मनुष्य के हाथ के बनाये गये मन्दिर, तीर्थ, गुरुद्वारा, चर्च, मस्जिद तथा चित्र, मूर्ति, शास्त्रों में धर्म नहीं है बल्कि जिसके द्वारा मनुष्य मूर्ति का निर्माण हुआ है, वृक्ष पौधे, फूल, फल, रस, जल, पृथ्वी, सूर्य, पवन, चन्द्रादि प्रकृति आदि का निर्माण हुआ है, वह परमात्मा है । जहाँ परमात्मा के होने की परमात्मा के ऐश्वर्य की झलक मिलती है उसे ही परमात्मा जानो, मानो । मनुष्य की चेतना इस जगत् में परमात्मा की सर्वाधिक महत्वपूर्ण कृति है । सृजनात्मक वैज्ञानिक एवं शैल्य चिकित्सक मनुष्य से ज्यादा परमात्मा की अनुभूति और कहीं प्रकट प्रतीत नहीं होती है । प्राणी का शरीर ही परमात्मा के रहने का सुन्दर मन्दिर है एवं उस देह मन्दिर में रहने वाला ही सच्चा धर्म या परमात्मा है ।

धर्म है समष्टि एवं व्यष्टि के मध्य प्रेम का पथ । जहाँ सागर बूंद में एवं बूंद सागर में एकत्व को प्राप्त हो जाते हैं । धर्म परस्पर घृणा, तिरस्कार,

हिंसा को मिटाकर दया, क्षमा, प्रेम, अहिंसा आदि सद्गुणों को मनुष्यों के जीवन में प्रकट करता है । जहाँ धर्म के नाम हिंसा, शत्रुता, भेदभाव, घृणा को जन्म मिले वह सम्प्रदाय अधर्म रूप ही है ।

जिन्हें आप धर्म कहते हैं वे व्यक्ति और समाज के बीच सम्बन्ध हैं वे धर्म नहीं सम्प्रदाय हैं । धर्म वह है जो सबको निरपेक्ष भाव से सूर्य, पवन, जल, पृथ्वी की तरह धारण करता है । सम्प्रदाय व धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है जैसा कि किसी जीवित मनुष्य के हंसने, रोने, खाने-पीने, बोलने, सुनने के व्यवहारों का उसके प्राण निकल जाने पर मुर्दे शरीर से उन समस्त क्रियाओं का कोई सम्बन्ध नहीं रहता है । सर्प निकल गया अब उसके कैचुल से उसका क्या सम्बन्ध ? पक्षी पिंजरे से निकल उड़ गया अब उस आकाश में उड़ने वाले पक्षी का पृथ्वी पर पड़े या छत से लटके पिंजरे से क्या सम्बन्ध ? यही भेद धर्म एवं सम्प्रदाय के मध्य का है । धर्म के लोप होने पर ही मुर्दा सम्प्रदायों का जन्म होता है । लोग धर्म के नाम पर सम्प्रदायों की लाशों को ढोते चलते हैं । जो सम्प्रदाय में बंध जाते हैं वे धर्म को कभी प्राप्त नहीं कर पाते हैं । धर्म प्राप्त करना है तो सम्प्रदाय की लाश ढोने के बोझ से प्रथम मुक्त होना होगा ।

व्यक्ति कितना ही उपयोगी, प्रिय एवं सुन्दर ही क्यों न हो किन्तु प्राण निकल जाने पर उसे कितने घंटे रखना चाहेंगे ? आखिर उससे मोह-ममता छोड़ जलाने, गाड़ने की व्यवस्था करना ही पड़ती है । यदि उससे मोह किया तो सड़न, दुर्गन्ध, रोग किटाणु तथा घृणा ही फैलती है । उससे पृथ्वी पर किसी से कोई प्रेम का सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाता । यदि आप समझदार होते तो सम्प्रदायों के साथ गत अवतारों के साथ भी वही व्यवहार करते जो घर के मृत पुरुषों के प्रति किया जाता है ।

धर्म तो आत्मा की तरह एक है एवं सम्प्रदाय शरीरों की तरह अनेक

है । पृथ्वी पर ३६५ से अधिक सम्प्रदाय हैं किन्तु वे परस्पर वैर, निन्दा, कलह, घृणा, हिंसा से भरे हुए हैं । अब इन मन्दिरों, मस्जिदों, गुरुद्वारों, चर्चों से प्रेम की सुगन्ध नहीं फैलती है । प्रार्थना से करुणता प्रकट नहीं होती है, बल्कि वैर, घृणा एवं हिंसा की आंधी ही चारों ओर उठती दिखाई पड़ती है । क्रोध की ज्वाला ही उठती प्रतीत होती है ।

कभी-कभी कोई एक सत्य धर्म प्रचारक पृथ्वी पर अवतरित होते हैं और तभी सभी सम्प्रदायी धर्म ठेकेदारों को खतरा पैदा हो जाता है क्योंकि वह एक सत्य धर्म प्रचारक ही उन सबको मिथ्या अन्ध विश्वासियों मिटा देने के लिये पर्याप्त है । सच्चे संत के प्रकट होने से सभी सम्प्रदायी भयभीत हो जाते हैं । इसलिए तो ऐसे ही सच्चे संतों को इन दम्भी नामधारी धर्म ठेकेदारों ने जहर पिलवाया, फाँसी लगवाई, बदनाम किया, पत्थर फेंके, सूली चढ़वाया । कुछ भाग्यशाली लोग ही राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, मसीहा, शंकर, दयानंद, कबीर, तुलसी, नानक के साथ रहे होंगे । जिन्होंने अपने बुझे दीपक को उन महापुरुषों की ज्योति से ज्योति का प्रकटाया होगा, जिनके जीवन में कुछ घटा होगा किन्तु उनके बाद दूसरी पीढ़ी के लोगों ने तो केवल उन महान पुरुषों के जीवन की कहानियों को ही दोहराया है । उनके पास तो केवल शब्द, शास्त्र, चित्र, मूर्ति की लाश ही शेष रही । इसीलिए उन्हें श्रुति, स्मृति नाम दिया । सुनी हुई, स्मरण की हुई बात रह गई दूसरी पीढ़ी के लिये । पहली पीढ़ी के लोगों ने तो उसे देखा, जाना, जीया किन्तु दूसरी पीढ़ी तक वे केवल मात्र लाश बच गई । सर्प चला गया केचुल हाथ रह गई । लोगों के हाथों से धर्म तो छूट जाता है केवल सम्प्रदाय में बंधकर रहजाते हैं ।

साम्प्रदायिक व्यक्ति ऐसी दुविधा में फंस जाता है अगर वह उन्हें न माने, न पकड़े और छोड़ दे तो उसके मन में अपराध पकड़ता है । क्योंकि तब ऐसा लगेगा कि मैंने पिता-माता गुरु एवं कुल परम्परा को धोखा दिया ।

उन लोगों ने मेरे साथ आशा बांधी थी कि यह धर्म निभायेगा, धर्म पर चलेगा । यदि मैं तोड़ दूँ, छोड़ दूँ तो मुझे पाप लगेगा । इस प्रकार दुविधा में पड़ जाता है । छोड़ दे तो ग्लानि, भय, तिरस्कार प्राप्त होता है एवं पकड़े रहे तो कोई आनन्दानुभूति भी नहीं होती है । बेचारे की सांप छछुन्दर वाली गति होती है ।

● ॐ ●

शव शिव नहीं

जो भी तुम्हारा प्रिय होगा, चाहे पति, पत्नी, बेटा, माँ, बाप मृत होने पर न चाह कर भी रोते-रोते जलाना ही पड़ेगा यही बात अवतारी धार्मिक पुरुष के मरने पर भी होना चाहिये । अब उसे भी बिदा कर दो । लेकिन सम्प्रदाय रूपी लाशों के पुजारी, सेवक, उपासक मत बनो । सम्प्रदायों को बिदा करने की लोगों में हिम्मत नहीं है इसलिये तो लाशें बढ़ती जारही है एवं वंढ़ती ही जावेंगी, दुर्गन्ध फैलती ही जावेगी । मन्दिर, मस्जिद, चर्च, गुरुद्वारे, रामायण, भागवत, महाभारत, गीता आदि सब श्मशान, कब्र, मरघट हो गये हैं वहाँ केवल धार्मिक लोगों की लाशों की कहानी केवल दोहराई जा रही हैं । ये धर्म ग्रन्थ नहीं है । धर्म से यह पुस्तकें प्रकट हुई है किन्तु पुस्तकों से धर्म का जन्म नहीं होता है । ग्रन्थों में धर्म ढूंढा जा रहा है । लोग मर जावेंगे ढूंढते हुए पढते हुए किन्तु इन लाशों की कहानियों से धर्म को कभी नहीं पावेंगे । धर्म तो चेतन है, शास्त्र जड़ है । जिन्होंने मूर्ति, चित्र व किताबों में ही धर्म समझा है वे धर्म भ्रष्ट हो गये हैं । ये किताबें तो लक्ष्य की तरफ बढ़ाने का माइल स्टोन (मील का पत्थर) हैं । ये तो कहते हैं इससे आगे बढ़ो, और आगे बढ़ो यहाँ मत रुको । तीर के निशान यह बताते है और आगे और आगे बढ़े चलो जहाँ तक 0 शून्य का पत्थर न आवे ।

गीता में कृष्ण की, बाइबिल में जीसस की, रामायण में तुलसी की, ग्रन्थ साहब में नानक की,धम्मपद में बुद्ध की, कुरान में मुहम्मद की मौजूदगी नहीं वहाँ उनकी मुस्कराहट नहीं । वहाँ केवल शब्द हैं उनके जीवन की कहानियाँ है उनके जीवन का इतिहास मात्र है । जैसे कोई संगीत के स्वर ज्ञान वाली पुस्तक देखे किन्तु वह ध्वनि शब्द नहीं है ।

रामकृष्ण, महावीर, बुद्ध, नानक, तुलसी, शंकर, दयानन्द से तो लोग प्रभावित हुए हैं क्योंकि उन लोगों के जीवन में प्रकाश उदय हुआ है । अब तो केवल उनकी कहानियाँ उनके धर्म ग्रन्थ के नाम से विख्यात हुई हैं । याद रखना ! यह ग्रन्थ, धर्म सब चली हुई कारतूस, छूटा हुआ फटाखा, खाली कैपसुल मात्र है । बच्चों वाली बंदूक रह गई है इसके सहारे तुम कुरुक्षेत्र का युद्ध नहीं जीत सकोगे ।

लोग सत्य धर्माचारी को स्वीकार नहीं करते उन्हें तो जहर दे, फांसी दीलाकर मारने को प्रस्तुत हो जाते हैं । एवं फिर उनकी मूर्ति, चित्र, समाधि तथा ग्रंथों के सम्प्रदाय बनाकर हजारों लाखों लोग उनकी पूजा उपासना कर अपना धन्धा चलाते हैं, जो बिल्कुल झूठ मात्र है । यदि आप सत्य धर्म की बात करेंगे सारे गाँव के लोग मारने आवेंगे, विरोध करेंगे, गाँव बाहर निकाल देंगे । और यदि आप झूठ की बात करें, लाशों की बात करें, किर्तन व नाम जप करे, लाशों की पूजा पद्धति बतलावें तो लोग आपकी बात पर विश्वास करेंगे आपकी भी पूजा करेंगे व कहेंगे कि महात्मा बड़ा अनुभवी है १२५ वर्ष का है ठीक कहता है । और सत्य धर्म की बात सुनाने कोई नगर में चला आवे तो वह सत्य व्यक्ति उन अन्धकारों को गड़बड़ मालूम पड़ता है । भरोसे का नहीं मालूम पड़ता । सम्प्रदाय की बात करोगे तो उनके गुलाम आपके वचनों को सुन प्रशंसा करेंगे । माला पहनावेंगे । क्योंकि आप उनके मन की मानी, सुनी बात को दोहरा रहे हैं, नींद को गाढ़ा कर रहे हैं । नींद को भगाने

वाले संत को तुम नहीं सुन सकते, तुम उसे ही भगा दोगे ।

धर्म सिखाता है समर्पण कि कैसे तुम मिटो । बूंद सागर में मिल जावें । लीन हो जाओ विराट में, जीवत्व शिवत्व में लीन हो जावे । व्यष्टि समष्टि में लीन हो जावे । कार्य-कारण रूप में पहचान ले किन्तु सम्प्रदाय परमात्मा पर कब्जा करना दावेदारी सिखाता है । धर्म कहता है परमात्मा तुम्हारा रक्षक है किन्तु सम्प्रदाय सिखाता है तुम परमात्मा के, धर्म के के रक्षक हो । कहीं कोई आकर मूर्ति मन्दिर न तोड़ दे, मस्जिद चर्च न तोड़ दे, गीता, कुरान, बाइबिल न जला दे, कोई हमारे भगवान, धर्म, सम्प्रदाय एवं ग्रन्थ का विरोध न करे । तुम्हें रक्षा करनी होगी, धर्म की, परमात्मा की, धार्मिक स्थानों एवं ग्रन्थों की । जैसे तुम्हारे बिना धर्म परमात्मा बेचारा बड़ी असहाय अवस्था में पड़ जावेगा, खतरे में पड़ जावेगा । अगर तुम उसके रक्षक बन न खड़े हुए तो क्या वह बेचारा कट, पिट, लुट, कर मर जावेगा । कैसी भ्रान्त धारणा अज्ञानियों की परमात्मा के प्रति है, यह जान मन को बड़ा दु:ख होता है ।

परमात्मा को तुमने क्या समझा है ? क्या परमात्मा कोई वस्तु या व्यक्ति है, जिसे तुम बचाओगे जिसकी तुम रक्षा करोगे । हिन्दू सोचता है धर्म के लिये शहीद हो जाना अच्छा है । तो मुसलमान भी सोचता है मजहब के लिये कुर्बानी देना हमारा फर्ज है, बन्दगी है । इसीलिए तो जब हिन्दू व मुसलमान लोगों की लड़ने की इच्छा होती है तो वे धर्म के नाम पर लड़ाई, मार, हत्या शुरू कर देते हैं । बुरे काम के लिये लड़ाई नहीं करना चाहते हैं । किन्तु धर्म के लिये लड़ने, लूटने, जलाने, काटने, मारने पर भी उनके पापी मन में, पाप, अपराध की भावना को तो स्थान ही नहीं मिलता कि मैं कुछ गलत कर रहा हूँ । धर्म का एक ही उपयोग है कि लोग उसके नाम पर अच्छी तरह लड़ सकते हैं, लोगों को ठग सकते हैं, लूट सकते हैं । लोग

लड़ने के लिये तैयार है । बस सुना कि हिन्दु धर्म खतरे में है, मुस्लिम धर्म खतरे में है, जैन धर्म खतरे में है, तो लड़ाई प्रारम्भ होने में मार-काट, तोड़-फोड़, लूटने, जलाने में कोई देर नहीं है । सब तैयारी किये पहले से ही सोचे बैठे हैं कि कब हिन्दुओं का त्यौहार आवे, मुसलमानों का त्यौहार आवे, ईसाइयों को त्यौहार हो तब हम कहाँ से पथराव करें, गोली चलावेंगे । राम जन्म भूमि व बावरी मस्जिद स्थल की घटना प्रत्यक्ष प्रमाण है ।

धर्म के नाम पर झूठ बोलो, तलवार उठाओ, अधर्म करो, अहिंसा के नाम पर हिंसा करो । क्या यही धर्म सिखलाता है ? जो घृणा फैला रहे हैं, द्वैष करना सिखा रहे हैं । जो किसी तिथि या पर्व पर पशु बलि, पशु हत्या करना धर्म बतलाते हैं, जो दूसरों को छोटा एवं बुरा मानते हों, निन्दा करना सिखाते हों, वे प्रार्थना भी कैसे करते होंगे ? उनकी प्रार्थना भी घृणा, भय, अशांति से ही भरी होगी । भला क्या ऐसे सम्प्रदायों की जेल में बन्धे मिथ्या सिद्धांत मानने वाले को कोई निष्पक्षी धार्मिक कह सकेगा ? कभी नहीं ।

● ॐ ●

''जो जागा सो निहाल''

लोग कान फुंका लेना, मन्त्र दीक्षा लेना परमावश्यक धर्म मानते हैं । तो वे किसी भी पंडित से मंत्र ले लेते हैं । फिर ३०-४०-५० वर्ष तक जपते रहते हैं और उन के जीवन में किसी प्रकार की धार्मिक क्रन्ति घटती नहीं । ब्रह्मज्ञान तो उस व्यक्ति से सुनना चाहिये जो अपने होश में आ चुका है । जो जाग चुका है । जो अभी सोया है उस देहाभिमानी पंडित से मंत्र या कथा श्रवण कर लेना कोई महत्व नहीं रखता है । जागे पुरुष तो कोई-कोई ही पृथ्वी पर होते हैं । ऐसे गुरु के मिलते ही समर्पण पूरा कर देना चाहिये ।

मुफ्त मंत्र नहीं मिलता है । जब तक तुम अपने को सतगुरु के सम्मुख पूरा समर्पण न कर दो, अपने को ही न झुका दो । अपने को पूरा मिटा देने की प्रबल भावना जब तक तुम्हारे मन में जाग्रत नहीं होती, तब तक कृपा वर्षा नहीं होती है और उस कृपा बिना जिज्ञासु को स्वरूप साक्षात्कार नहीं होता है । गुरु कृपा पाना बड़े साहस का कार्य है, सिर की बाजी लगाना पड़ती है तब कहीं सद्गुरु प्रसन्नता प्राप्त होती है ।

यह तन विष की बेलड़ी, गुरु अमृत की खान ।
शीष कटाये जो मिले, तो भी सस्ता जान ।।

किताब पढ़कर कोई परमात्मा को नहीं जान सकता । काश इतना सरल होता परमात्मा को जानना, तो सब कोई बिना कष्ट के जान लेते फिर परमात्मा के लिये की बाजी लगाने की बात ही पैदा नहीं होती । घर फूंक बाहर निकलने की बात ही पैदा न होती ।

'जो घर फूंके आपनो चले हमारे साथ'

परमात्मा को तो वही पा सकता है जो अपने को मिटा सकने की हिम्मत भर सकेगा । जब खुद ही मिट जाता है तभी खुदा मिलता है ।

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि है मैं नाय ।
प्रेम गली अति सांकरी, ता में दुई न समाय ।।

साम्प्रदायिक व्यक्ति ने कभी धर्म नहीं जाना और न कभी वह जान सकेगा । जिन्हें धर्म जानना है उन्हें सब सम्प्रदायों से मुक्त होना होगा । सब धारणाओं से, मान्यताओं से, अन्धविश्वासों से, जाति, धर्म भेदों से तथा समस्त देह अहंकारों से बाहर निकलना होगा एवं मन एकमात्र उसमें लीन करना होगा जो तुम्हारा अपना ही स्वभाव है । उस स्वभाव को अपनाते ही वह तुम्हें तत्काल सोऽहम् रूप में परमात्मा से मिला देगा, क्योंकि स्वभाव से परमात्मा भिन्न एवं दूर नहीं है । उसे कहीं और देश काल, वस्तु में खोजना

नहीं है । वह तुम्हारे ही भीतर मैं रूप में छुपा है बल्कि वह तुम ही हो ।

कस्तूरी कुन्डल बसे मृग ढूंढे वन माहिं ।
ऐसे प्रभु घट–घट बसे, मूरख बाहर जाहिं ।।

परमात्मा सब ओर फैला है, प्रत्येक प्राणी को वह छू रहा है किन्तु तुम पत्थर को पूज रहे हो, समाधि के साथ चिपके पड़े हो, ग्रन्थों को मस्तक पर लगा उनमें ढूंढ रहे हो, कब्र के सम्मुख प्रार्थना कर रहे हो । चित्र या काष्ठ, कागज, पत्थर प्रतिमा के सम्मुख भजन कीर्तन कर रहे हो । लोग कीर्तन में सर डुलाने लग जाते हैं और समझते हैं हम बड़ी काम की बात कर रहे हैं, बड़ी ऊँची अवस्था में पहुँच चुके हैं । बड़ा धर्म एवं नाम कमा रहे हैं कि देखो हम कैसे परमात्मा के प्रेम भक्ति में लीन हो गये हैं । किन्तु उनकी वह प्रेम भक्ति वहाँ के वातावरण संगीत का ही प्रतिफल है । ऐसा गाना, झूमना, मस्ती, ताल ठोकना तो वैश्या के घर बैठे लोगों को भी आता रहता है । जब तक आत्मा का बोध नहीं हुआ तब तक पूजा, पाठ, कीर्तन, ध्यान सभी व्यर्थ है । इन सब बाह्य आचरणों नियमों से कुछ नहीं होगा । और भीतर का बोध जग जावे कि मैं आत्मा, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तानन्द हूँ तो फिर पत्थर, माला, कीर्तन, ध्यान आदि की गई क्रियाएँ साधन सभी महत्वपूर्ण हो जाते हैं ।

एक गाँव में ईसाई पादरी ने हजारों को ईसाई बना लिया । गाँव के लोगों के सामने वह एक पानी का बड़ा बर्तन मंगा लेता और अपने झोले से एक राम एवं मसीहा की मूर्ति निकाला उन दोनों को पानी के बर्तन में डाल देता और गाँव वालों को दिखता है कि देखो तुम्हारे राम की मूर्ति पानी में डूब गई एवं जीसस की मूर्ति में पानी में तैर रही है । तब पादरी उन भोले लोगों को समझाता कि देखो जो स्वयं डूब गया है वह ओरों को कैसे बचावेगा ? जीसस नहीं डूबा है इसलिए वही हमें बचा सकेगा अतः राम की शरण छोड़

उसी की शरण ग्रहण करो । हजारों-हजारों लोग इस चमत्कार को देख ईसाई बन गये ।

कुछ समय बाद उसी गाँव में एक संन्यासी आया और उसने ईसाई पादरी के पास की दो मूर्ति की बात सुनी । वह संन्यासी पादरी की चालाकी समझ गया था कि राम की मूर्ति पत्थर की बना रखी है एवं जीसस की लकड़ी की इसीलिए पत्थर डूबता है लकड़ी तैरती है । संन्यासी ने गाँव वालों को राम के प्रति पुनः श्रद्धा स्थापित कराने हेतु दूसरी बात फैलाई कि सच्ची परीक्षा अग्नि परीक्षा है । शास्त्र में भी अग्नि परीक्षा का महत्व है, स्वयं सीता ने अग्नि परीक्षा दी थी । तो तुम्हारे पादरी के पास जो दोनों मूर्तियां हैं उनकी अग्नि परीक्षा करके देखें जो बच जावेगा वही बचा सकेगा एवं जो जल जावेगा वह हमें क्या बचा सकेगा ? गाँव वाले सहमत हो गये बात न्याय की थी किन्तु पादरी सहमत नहीं हुआ वह गाँव छोड़ भाग गया ।

किन्तु जब परमात्मा का वास्तविक बोध होगा तब ज्ञात होगा कि परमात्मा ही सर्व रूप है अणु-अणु है वही सब ओर बरस रहा है । किसी को भी जलाओ, काटो, मारो वही जलेगा, कटेगा, पिटेगा, मरेगा । मस्जिद जलाओ या मन्दिर तोड़ो, वेद जलाओ या कुरान सब उसी को जला रहे हो, मिटा रहे हो । यह सारा जगत् उसी का मन्दिर है सब किताबें उस की ही प्रार्थना है सब मूर्तियां उस एक की ही है । जब ऐसे समत्व योग को आप प्राप्त करेंगे तब उसी क्षण परमात्मा तुम्हारे अन्दर अवतरित हुआ जानना ।

'प्रकट कृपाला दीन दयाला'

लेकिन क्या देखने में आता है कि लोग आत्मा की पूजा के स्थान पर पत्थरों की पूजा करते हैं । स्नान कराते हैं, पाठ करते हैं, प्रार्थना करते हैं; पत्थर मूर्ति के सम्मुख हाथ जोड़ते हैं, पैर छूते हैं । किन्तु चैतन्य संत के आगे नमस्कार तक नहीं करते, उनके सम्मुख अपने बन्धन से मुक्ति दिलाने हेतु

प्रार्थना नहीं करते । क्योंकि अब ये पत्थर के काम के रह गये हैं । चैतन्य ही चैतन्य के आगे झुक सकता है जड़ बुद्धि वाला ही जड़ मूर्ति, ग्रन्थ के सम्मुख गिरता है । लोग बुझगये राम, कृष्ण आदि दीपक को तो मन्दिरबना मूर्ति रूप में पूजते हैं किन्तु उसमें जलने वाली ज्ञान ज्योति को नहीं । शरीर रूप बुझे दीपक की पूजा तो करते हैं किन्तु उनके ज्ञान ज्योति की नहीं । तब क्या होगा इस प्रकार तुम्हारे दीपक रूप मूर्ति, स्नान, पूजा, पाठ से ? तुम पाप करो एवं गंगा उसे ढोये । भला उसने ऐसा क्या पाप किया जो शुद्र की रतह वह तुम्हारे पापों के पहाड़ों का बोझ उठावे ? याद रखो ! शरीर को कहीं कितनी बार भी मल-मल कर स्नान कराओ किन्तु इससे भीतर की चेतना तो निखरेगी नहीं । स्नान तो शरीर की स्फूर्ति का साधन है, शरीर शुद्धि का साधन है । आत्म शुद्धि का साधन तो ज्ञान है । शरीर कभी शुद्ध नहीं होता है एवं आत्मा कभी मलिन भी नहीं होती है । इस प्रकार दोनों का स्वभाव जान ज्ञानी कभी आत्म शुद्धि हेतु परिश्रम नहीं करता है । स्नान शरीर के लिए बहुत जरूरी है । परमहंस बनकर मत बैठ जाना कि वहीं टट्टी वहीं खिचड़ी खा रहे हैं । यह कोई ज्ञानी का लक्षण निश्चय मत कर लेना, ऐसी समता तो मक्खी भी जानती है । शरीर की जरूरत को पूरी करना जरूरी है, लेकिन शरीर की जरूरत को आत्मा की जरूरत मत समझ लेना । शरीर का स्नान, आत्म स्नान, आत्म शुद्धि नहीं है ।

स्नान करके पूजा करने से पूजा प्रार्थना की सम्भावना ज्यादा हो जाती है । गन्दे शरीर से पूजा, ध्यान की चेष्टा होने पर भी साधना कम हो पाती है । स्नान कर लेना पर्याप्त नहीं किन्तु स्नान कर लेना पूजा, प्रार्थना, ध्यान के लिये सहारा बन जाता है । स्नान ही सब कुछ नहीं है । कुछ आगे भी करना है । इसी प्रकार सम्प्रदाय के लिये भी यही बात समझ लेना चाहिये कि सम्प्रदाय ही सब कुछ नहीं है इसके बन्धन से भी मुक्त होकर धर्म तक जाना है । धर्म तो मंजिल है । सम्प्रदाय सीढ़ी है, मार्ग है, मील का पत्थर

है, वहीं बीच में मत अटक जाना ।

जीवित धर्मगुरु के पास पहुँचे तो पूरे बदल जाओगे ।जड़ मूर्ति, ग्रन्थ या सम्प्रदाय के पास पड़ाव डाल दिया तो तुम नहीं बदल सकोगे ।वे मुर्दे तुम पर अधिकार नहीं कर सकेंगे, तुम्हें आगे के मंजिल की यात्रा नहीं करा सकेंगे । सम्प्रदाय मुर्दे पर तुम कब्जा कर लोगे अपने सुबिधानुसार मन के अनुकूल नीति नियम बना लोगे किन्तु जीवित के समीप तुम नहीं जाते हो क्योंकि वहाँ तुम्हे भय है वह तुम्हे बदलेगा अन्धविश्वास तथा भ्रान्त धारणा से हटावेगा । कबीर मरे तो हिन्दू, मुसलमान दोनों कब्जा करने चले गये । हिन्दू कहने लगे लाश हमारी है हम जलायेंगे तो मुसलमान कहने लगे लाश हमारी है हम इसे गाड़ेंगे ।जीवित में हिन्दुओं ने मन्दिर में कबीर को न घुसने दिया । मुसलमानों ने उसे हिन्दू कहकर जीवित में मस्जिद में नहीं आने दिया । मरने पर दोनों कब्जा करने आते हैं ।कबीर की मृत्यु हुई तो मकान दो हिस्सों में बंट गया आधे की हिन्दू पूजा करते हैं आधे पर मुसलमान नमाज पढ़ते हैं ।

● ॐ ●

परमात्मा के लिये भागो नहीं, जागो

आप दौड़ के उसी पदार्थ को, स्थान को, व्यक्ति को पा सकोगे जो आप से दूर है, पृथक् है तथा एक देशीय है । ब्रह्म दौड़ कर नहीं मिल सकेगा इसका मतलब वह अन्य नहीं है अर्थात् दूर नहीं है ।इसीलिये कहा है ''***उत्तिष्ठत जाग्रत***'' उठो जागो ।

''कस्तूरी कुण्डल बसे मृग ढूंढे वन माहि''

मृग को कस्तूरी हेतु किसी दिशा की यात्रा पर नहीं निकलना होगा,

उसे दौड़कर ढूंढने की आवश्यकता नहीं । यदि कस्तूरी हेतु मृग कहीं वाहर खोजने की चेष्टा कर रहा है तो वह उसकी नासमझी है, उसे वह कहीं किसी प्रकार कभी भी नहीं मिलेगी ।

मुझको कहाँ तू ढूंढे भैया,
मैं तो हूँ तेरे पास में ।

वस्तु यदि भीतर छिपी है तो उसे खोजने हेतु बाहरी दसों दिशाएँ गलत हैं । तुम किधर भी जाओ वह दिशा गलत ही होगी; क्योंकि कस्तूरी का दिशाओं से कोई सम्बन्ध नहीं । परमात्मा केन्द्र बिन्दु है और उसे बाहर परिधि पर खोजना असम्भव एवं नासमझी है ।

जैसे गर्भस्थ बालक के नव माह जो सारे आयु का केन्द्र बिन्दु (आधार) है, उसे कोई गिनता ही नहीं । सभी गर्भाशय से बाहर आने के दिन से ही उसकी उम्र मानते हैं । जब वह भीतर ही था तब तक उसकी १ से ९ या १० मास तक बराबर गिनती हो रही थी, किन्तु शिशु के बाहर आते ही माता-पिता उसके भीतर की आयु की बात भूल ही जाते हैं कि बालक जो आज बाहर आया है यह ९/१० मास और एक दिन का है मात्र आज का ही नहीं है, किन्तु सभी माता-पिता इस मूल बात को भूल ही जाते हैं इसी प्रकार सबको परमात्मा रूप बताने वाला स्वयं परमात्मा है इस बातको भूल ही जाता है । ''दसवाँ तू'' इस दृष्टांत से भी यही प्रकट होता है कि नवा व्यक्तिओंको गिनने वाला स्वंय दसवाँ व्यक्ति होते हुए भी दसवें को खोया हुआ जान दुःखी होता रहता है । जब कोई समझदार व्यक्ति उसके दुःखों का कारण पूछता है तब अपने दसवाँ साथी को खो जाने कि घटना को बताता है । वह समझदार व्यक्ति उसे अनुभव करादेता है कि तब व्यक्तियों को गिनने वाला दसवाँ तू ही है ऐसा बोध कराकर दुःखों से मुक्त करादेता है ।

सब ओर आठ दिशा तथा ऊपर नीचे दो इस प्रकार दस दिशा हम

कहते हैं, किन्तु ग्यारहवीं दिशा को कोई नहीं जानते । और वही ११ वीं दिशा इन दस दिशाओं का मूल केन्द्र बिन्दु है । यह दस दिशा तो आसपास की बाहारी परिधि है । जिसे हम खोज रहे हैं वह परमात्मा हमारे भीतर छिपा है । हम अपने को ही घर बाहर इधर-उधर जा-जाकर खोज रहे हैं । कोई भी मार्ग अपनावें भटकेंगे । धीरे या तेज तो दौड़ने का प्रश्न ही नहीं है । परमात्मा को एक इंच भी अपने से हट कहीं बाहर खोजने का साधन अपनाया तो वह नहीं मिलेगा, जो इसी क्षण खोज से पूर्व आत्मा रूप में विद्यमान है । हम कितनी ही कठिन यात्रा पर निकलें, हिमालय में जाकर उसे ढूंढें, उसके मिलन में उतनी ही देरी होती चली जावेगी जितने समय तुम उसे स्वयं न जान अन्यरूप मान खोजने में लेगे रहोगे । दूरी होने का तो प्रश्न ही नहीं क्योंकि वह खोजने वाला जहाँ भी जावे और जिसे खोजा जा रहा है वह भिन्न नहीं है ।

सब दिशाएँ छोड़ो एवं वहीं रूक जाओ जहाँ तुम हो । यही तो कबीर का संकेत है -

'खोजी होय तुरंत मिल जाउँ, जहँ पैर रखा तलाश में'

● ॐ ●

असतो मा सद्गमय

दौड़ है जगत् एवं रुक जाना है परमात्मा । जो माया जगत् को ही ठीक से न जान पाया वह ब्रह्म को कैसे जान पायेगा ? मिथ्या दृश्य जगत के मिथ्यो ठीक से जानकर ही मनुष्य सत्य को जान सकेगा । जैसे-जैसे मन से असत्य स्पष्ट होता जाता है, वैसे-वैसे सत्य प्रकट होता जाता है एवं असत्य तिरोहित हो जाता है । असत्य को भली भाँति पहचान लेना कि यह असत्य है बस सत्य के द्वार खुल जाते हैं । जब तक असत्य के साथ जुड़े हैं

तब तक सत्य को जान भी नहीं सकेंगे इसीलिए शिष्य गुरु से प्रार्थना करता है मुझे असत्य से हटाकर सत्य में स्थित करो ।

'असतो मा सद्गमय'

मुझे असत्य धर्म, असत्य गुरु, असत्य देवी-देवताओं तथा अन्ध विश्वासों से वैराग्य कराकर सनातन, सत्यधर्म सद्गुरु तथा सच्चिदानन्द परमात्मा का साक्षात् कराने की कृपा करें । क्योंकि बन्धन से मुक्त होने वाला ही जीव मुक्ति पथ पर प्रगति कर सकता है ।

प्रथम रोग को पहचान कर फिर हटाने का उपचार किया जाता है । स्वास्थ्य को प्रकट करने का सीधा उपाय नहीं है; रोग हटा तो स्वास्थ्य स्वत: ही प्रकट हो जाता है । इसी प्रकार ब्रह्म को पाने का कोई सीधा उपाय, साधन नहीं है । माया बीमारी को पहचानने एवं हटाने के ही समस्त आश्रम रूप चिकित्सालय एवं आचार्य, गुरु रूप चिकित्सक माया, भ्रम को हटाने की चिकित्सा करती हैं । भ्रम के हटते ही ब्रह्म स्वत: प्रकट है । बादल हटते ही सूर्य स्वत: प्रकट है । ब्रह्म भाव में जो स्थित है वही 'स्वस्थ' है तथा जो 'स्व' केन्द्र में श्रद्धा रहित एवं देह भाव में स्थित है वही 'अस्वस्थ' है ।

देह की चिकित्सा में तो चिकित्सक को रोग का निदान करना पड़ता है फिर वह रोगमुक्त होता है, किन्तु यहाँ तो आत्मा की चिकित्सा में निदान ही इलाज है रोग को पहचान लेना ही उपचार है कि देह जड़ एवं विकारी, नाशवान है तथा चेतन आत्मा एवं अविनाशी, अविकारी है और वह मैं हूँ । इस बात को अलग-अलग जान लेना ही देह बन्धन से मुक्त होना है । और कोई अलग से औषधि की जरूरत ही नहीं है । क्योंकि यह जन्म-मरण, कर्ता-भोक्ता तथा जीव बीमारी केवल भ्रांति से ही है ।

'यद्यपि मृषा छूटत कठिनाई'

स्वप्न के भय से मुक्त होने के लिये जाग्रत होना ही एक मात्र उपचार

है । असत्य को ठीक से जान लेना ही सत्य को प्राप्त कर लेने का मार्ग है । सत्य को प्राप्त कर लेने का मार्ग है – ऐसा भी नहीं कहा जा सकेगा बल्कि सत्य को पा लेना ही है । सत्य को पा लेना भी कहना भूल होगा क्योंकि सत्य हम से कभी दूर नहीं था तब पाया भी कैसे कहें ? जब दूर नहीं तो मार्ग भी कैसे कहें ? अर्थात् वह हम ही है । अहं ब्रह्मास्मि, सोऽहम् ।

पाया कहे सो बावरा, खोया कहे सो क्रूर ।
पाया खोया कुछ नहीं ज्यों का त्यों भरपूर ।।

अज्ञानी लोग परमात्मा को खोजते हैं मुक्ति को पाना चाहते हैं । यह कैसा पागलपन है जिसे कभी खोया नहीं उसे कैसे खोजोगे । जिस समय तुम उसे खोज रहे हो वह तब भी तुम्हारे रूप में मौजूद है, मुक्ति चाहने के पहले भी तुम नित्य मुक्त ही हो ।

जाको तू खोजत फिरे, सो तू आपे आप ।
और होय तो पा सके, यह तू स्वयं अमाप ।।

● ॐ ●

जागते रहो

याद रखें ! तुम्हें न परमात्मा मुक्त कर सकेंगे न गुरु, न पत्नी, न पति, न धन, न समाज । तुम्हें कोई यदि मुक्त कर सकेगा तो पुन: कोई बांध भी सकता है । बन्धन तुम्हारे चाहने पर है । तुम बंधना चाहते हो तो पंडित जी हाथ में सूत्र, गले में ताबीज, डोरा, जनेउ, माला व पति मांग में सिन्दुर डाल देते हैं । कोई गाय, कुत्ता, बिल्ली, तोता हमारे को नहीं बांध सकता जब तक कि हम उसे स्वीकार न करें । बंधन सापेक्षिक है इसलिए कहा

‘विमुक्तश्च–विमुच्यते’

मुक्त ही मुक्त होता है । वास्तविक रूप से आप पहले से बंधे नहीं हैं इसीलिए ज्ञान द्वारा मुक्ति वेद बतलाता है । ज्ञान द्वारा मुक्ति प्राप्त होने का तात्पर्य यही है कि हमारा बंधन अज्ञान कल्पित है वास्तविक नहीं है ।

'ज्ञाना देव तु कैवल्यम्'

यदि तुम मुक्त होना चाहो तो कोई दूसरा बंधन कैसे डाल सकेगा ? क्या पति रोक सकता है ? पत्नी रोक सकती है ? बच्चे रोक सकते हैं ? क्या समाज रोक सकता है ? दुनिया की कोई शक्ति तुम्हें नहीं बांध सकती है । तुम्हारी मुक्ति अपराजेय है । शास्वत, नित्य, सनातन एवं अखंड है ।

हे आत्मन् ! बँधे तुम अपनी इच्छा से हो मुक्त भी तुम्हीं स्वेच्छा से हो सकोगे । यह परमात्मा की कृपा है जो तुम्हें दूसरा बांध नहीं सकता । यदि दूसरा बांध सकता होता तो तुम कभी मुक्त ही न हो सकोगे, क्योंकि यदि तुम्हारा बंधन कोई काट चला भी जावेगा तो फिर कोई दूसरा पुन: बांध जावेगा । तब तुम्हारी मुक्ति कभी हो नहीं सकेगी । यह होश आ जावे कि बंधन न के बराबर है । मुझे कोई बांध नहीं सकता, तब मुक्ति की कामना समाप्त हो जावेगी । तुम ही वृक्ष की डाल में दोनों हाथों की अंगुलियों का फंदा डाल लटक रहे हो वृक्ष ने तुम्हें नहीं पकड़ा, तुम छोड़ना चाहो तो तत्काल छोड़ सकते हो नहीं तो बंधे ही रहोगे ।

'बंध्यों कीर मरकट की नाई'

बंदर मटकी में हाथ डाल स्वयं मुट्ठी बांध फंस गया है एवं अनहुए भूत की कल्पना करता है कि मटकी में स्थित भूत ने मेरा हाथ पकड़ लिया है । जीव खुद ही अपने वास्तविक रूप को भूल गया है एवं अन्य को दोष दे रहा है कि मुझे इसने बांध लिया है, उसने बाँध लिया है, मेरे चारों ओर बंधन का जाल है । कांच मन्दिर में कुत्ता, जलकूप में सिंह एवं दर्पण में चिड़िया अपनी ही परछाई देख लड़कर घायल हो मर जाते हैं, वहाँ उन्हें हराने,

टकराने, मारने वाला कोई अन्य नहीं है । हाथी स्फटिक शिला में अपना ही प्रतिविम्ब देख उससे लड़ता है एवं अपने ही दांत तोड़ लेता है ।

वही दशा जीव की है । मोह-माया रूप मुट्ठी बांध ली अव मुट्ठी हम नहीं खोलते हैं बंदर की तरह एवं द्वार-द्वार चिल्लाते फिरते हैं कि मुझे बचाओ, मुझे छुड़ाओ, इस नरक बंधन से । तुम परेशान हो लोभ के कारण । बंधी मुट्ठी (मोह-ममता) छोड़े बिना सुखी नहीं हो सकोगे ।

लोग मन्दिर, चर्च, मस्जिद, गुरुद्वारा में चित्र, मूर्ति के सम्मुख प्रार्थना करते हैं कि हमारी मुट्ठी बंधी रहे एवं हम संसार मटकी से बाहर हो जावें । मुट्ठी खोलनी पड़ेगी । अन्यथा संसार के भोगों में लोभ कर बन्धन से मुक्त नहीं हो सकोगे । संन्यास का इतना ही अर्थ है घर में रहो, व्यापार करो, नौकरी करो, विवाह करो, बच्चे बनाओ, मकान बनाओ, बस पकड़ो मत मुट्ठी खुली रहे । जीयो संसार को, भोगो संसार को वह भोगने के लिये ही परमात्मा ने बनाया है । उपयोगी न होता तो परमात्मा इतनी सुन्दर प्रकृति को प्रकट ही क्यों करता ? जीयो पर जागकर जीयो । मुक्त रहकर जीयो, पकड़ो मत । विचरो संसार में सबका अनुभव करो पर जागकर करना ताकि अनुभव कारागृह न बन जावे । एक भी अनुभव ऐसा नहीं कि उसे छोड़ा जावे । जीव की पांच ज्ञानेन्द्रियों की उपयोगिता जगत् के पांच विषयों का उपयोग (अनुभव) करने के लिए है बांधने के लिये नहीं । चखो किन्तु बन्धो नहीं ।

● ॐ ●

साक्षी रहो

बहुत से ज्ञानी संत गृहस्थ हैं । पत्नी, बच्चा, घर, सम्पत्ति, राज्य, व्यापार, खेती है । फिर भी वे अलिप्त हैं, असंग हैं, मुक्त हैं । क्या कला

सीख रखी होगी उन्होंने ? और दूसरी तरफ कुछ न करने वाला त्यागी भी बंधन में पड़ा दु:खी होता रहता है । उनके पास कला है विवेक । कला है होश में रहने की, जाग्रत रहने की । जो करना है करो, जो भोगना है भोगो । भागने की कोई आवश्यकता नहीं, त्यागने की कोई आवश्यकता नहीं । लेकिन क्रिया होते समय कर्ता मत बनना । साक्षी रहो । बाजार जाओ, औफिस, फैक्टरी जाओ कर्ता मत बनो, साक्षी रहो । प्रार्थना करो, मन्दिर, तीर्थ जाओ कर्ता मत बनो । कर्ता ईश्वर को ही रहने दो मन को ही रहने दो तुम इन दोनों के बीच झंझट में न पड़ना । तुम साक्षी रहो ।

'दो पाटन के बीच में साबुत बचा न कोय'

देख देख देखने वाला को देख

जान जान जानने वाले को जान

मान मान मानने वाले को मान

वही परमात्मा तुम हो

''तत्त्वमसि''

● ॐ ●

आँख हो तो देखें

परमात्मा विराट है वह छुप नहीं सकता । सूर्य को भला कोई कैसे ढक सकता है ? परमात्मा पर कोई आवरण (परदा) होता तो हटाया भी नहीं जा सकता था । यदि आवरण परमात्मा पर होता तो मन्दिर में जैसे मन्दिर का पुजारी ठाकुर मूर्ति के सम्मुख वाला परदा हटा या द्वार खोल सभि भक्तों को

एक साथ दर्शन करा देता है इसी तरह परमात्मा पर भी किसी प्रकार का आवरण, परदा होता तो कोई एक समर्थ राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, जीसस, मुहम्मद जैसे भक्त परदा हटा लेता तो अन्य सभी बिना भक्ति श्रम किये सहज दर्शन कर लेते ।

परदा, आवरण, घूंघट हमारी आँख पर मोतियाबिंद की तरह छाया हुआ है इसलिए इतना विराट परमात्मा सब ओर होते हुए भी प्रतीत नहीं होता ।

घट–घट में है सूझे नहीं, लानत ऐसी जिन्द ।
तुलसी या संसार को, भयो मोतियाबिंद ।।

आँख में मिट्टी का कण गिर जावे तो महान सूर्य भी ओझल हो जाता है, हिमालय भी छिप जाता है । इसी प्रकार बुद्धि नेत्र में अज्ञान की परत छा जाने से सर्वत्र विद्यमान परमात्मा भी दिखाई नहीं पड़ता । हमारी आँख पर कोई अन्य परदा नहीं कर सकता है । घूंघट अपने ही हाथों से हमने गिराया है तो हम ही उसे हटा सकेंगे । स्वयं के अतिरिक्त हमारा घूंघट किसी ओर द्वारा नहीं हटाया जायेगा, न किया जावेगा ।

महावीर, बुद्ध, कबीर, शंकराचार्य ने अपनी आँख का परदा हटाया एवं उस विराट को सब रूपों में देख लिया । उन्हीं के शिष्यों ने आँख का जब तक परदा न हटाया वे न देख सके । अर्जुन की बुद्धि आँख से अज्ञान परदा हटा तभी वह अपने दिव्य चक्षु द्वारा अपने अविनाशी, अखंड, सत्य आत्म स्वरूप को देखसका । सत्य पर परदा होता तो उसके स्वभाव को कौन हटा सकता था ? कोई नहीं जैसे अग्नि की उष्ण प्रकृति को कौन मिटा सकता है ? यह परदा कोई बाहरी नहीं है स्त्री घूंघट की तरह जो कोई अन्य पुरुष हटा दे । यह परदा घूंघट भीतरी है । जो किसी सद्गुरु कृपा से स्वयं को ही हटाना होगा स्वदर्शन हेतु ।

''घूंघट का पट खोलरी ताहे पिया मिलेंगे''

शरीर परमात्मा का मन्दिर है एवं चैतन्य आत्म देव अन्दर विराजमान हैं । परमात्मा ही आँखों से सब ओर देख रहे हैं, कानों से सुन रहे हैं, जीभ से स्वाद ले रहे हैं । कण–कण में परमात्मा विद्यमान है । जब ऐसा परम बोध होगा तब आपके शरीर की, मन की स्थिति उस परमात्मा के बिना केसे हो सकती है ? फिर हर वृत्ति अवस्था में मन को शांत एवं प्रसन्न ही पायेंगे तब मन की किसी प्रकार कोई शिकायत नहीं कर सकेगें ।

● ॐ ●

अस्वीकार से अशांति

जिसे हम स्वीकार कर लेते हैं उसके पार हम हो जाते हैं । दु:ख, अशांति, गाली, अपमान, हानि मृत्यु को हम नहीं चाहते हैं यह अस्वीकार की भावना ही हमारे दु:ख का कारण है ।

यदि हम गाली, अपमान, दु:ख को स्वीकार ही कर लें तो हमें कौन दु:खी कर सकेगा ? मन की चंचलता को स्वीकार कर लो फिर देखो आपके मन को कौन चंचल, अशांत बना चिन्ता में डाल सकेगा ? अगर मैं दु:ख, अशांति, गाली, अपमान के लिये पूर्व से ही राजी हूँ तो फिर कौन मुझे अशांत कर सकेगा ? आपको शांत होने की इच्छा ही अशांत एवं चंचल बनाती है । स्वीकार ही शान्ति का सूत्र है ।

जैसे किसने तुम्हे कोई अवशब्द कहा और तुम उसे स्वीकार कर चुपब रहगये तो वह गाली देने वाला व्यक्ति तुम्हारे द्वारा प्रतिरोध न पाने पर शान हो जावेगा । यति तुमने उसे गाली का उत्तर गाली से दिया तो विवाद बढ़ता जावेगा ।

● ॐ ●

शांति का साधन

जब अशांति दु:ख, अपमान, हानि आदि अनइच्छित अवस्था प्राप्त हो तब उसे जीव भाव से स्वीकार करलें कि ''ठीक है मैंने ऐसा ही कर्म किया था इसीलिए प्रकृति ने यह फल मुझे दिया है'' अब इसे मेरे अलावा कौन भोगेगा ? किन्तु अब मैं ऐसा कोई दुष्कर्म न करूँ, यदि किया तो इसी तरह मुझे पुनः दुःख उठाना पड़ेगा । बस इन विचारों से ही शांति का जागरण हो जावेगा ।

जब तक आप अपने पूर्ण विचारों वासनाओं, वृत्तियों तथा अवस्थाओं को स्वीकार नहीं करते तब तक आप में पूर्ण अद्वैत घटित नहीं हो सकेगा जैसे श्रीकृष्ण अर्जुन को अपने दिव्य विभूतियों का बोध कराते हुए सर्वव्यापि रूप को दशम अध्याय के २० से ३९ श्लोक तक बतलया है । जिसमें किसी शुभाशुभ कार्य को अस्वीकार नहीं किया है ।

इस प्रकार १४ अध्याय के २२ से २५, तथा अध्याय १२ के श्लोक १३ से २९ तक में केवल समता भाव, साक्षी भाव को ही बतलाया है । अत: जो भी प्रतिकूल या अनुकूल विचार उदय या अस्त हों, आप उसे न रोकें न हटायें । उन्हें मात्र देखो कुछ पाप नहीं लगेगा । जो मरजी आवे वह ध्यान में होता रहे कोई विरोध नहीं करो, बस देखते रहो कि हो रहा है । मैं जान रहा हूँ, मैं देख रहा हूँ, बस हो रहा है । मैं साक्षी हूँ, मैं कर्त्ता नहीं हूँ, मैं केवल द्रष्टा हूँ ।

ॐ शांति: शांति: शांति:

ॐ

मनोनाश

प्राणायाम द्वारा मनोलय करना ऐसी अवस्था है जैसे नींद में मनुष्य शून्य-सा निष्क्रिय प्रतीत होता है पर जाग्रत होने पर उसमें सभी वे क्रियाएँ प्रकट हो जाती है जिनके संस्कार शयन से पूर्व उनके मन में बीज रूप विद्यमान थे । इसी प्रकार प्राणायाम क्रिया से अज्ञान का नाश नहीं होता बल्कि कुछ काल के लिए मन विचार शून्यता, संकल्प शून्यता को प्राप्त तो हो जाता है किन्तु प्राण निरोध की क्रिया बन्द होते ही मन की क्रियाओं का पुन: उत्थान हो जाता है । कारण कि मनोलय की अवस्था में मन के कारण अज्ञान का नाश नहीं हो सकता ।

अज्ञान का नाश प्राणायाम या मनोलय साधन द्वारा कभी नहीं हो सकता । मात्र आत्म विचार द्वारा जाग्रत हुए मन द्वारा ही अज्ञान का नाश हो सकता है ।

मनोनाश का मतलब जिस बाह्य मन से प्रारब्ध प्राप्त देह, इन्द्रिय विषय भोग की क्रियाओं को किया या भोगा जाता है, उस मन का नाश नहीं करना है बल्कि मन के भीतर जो आत्म स्वरूप के विषय में जो अज्ञान है कि मैं कर्ता-भोक्ता जीव एवं जन्म-मृत्यु रूप शरीर हूँ, इस मन की भ्रांति को दूर करने को मनोनाश कहते हैं । अर्थात् मैं अजन्मा, अकर्ता-अभोक्ता, नित्य, मुक्तात्मा हूँ इस प्रकार के शुद्ध निश्चय का हो जाना ही मनोनाश है । जब ब्रह्म से भिन्न जगत् नहीं तब मन कहाँ ? एवं मन नहीं तो सुख-दु:ख, बन्ध-मोक्ष कहाँ ? एक आत्मनिष्ठा के अतिरिक्त सब भ्रांति है ।

प्राणायाम द्वारा मनोलय की भूल भ्रांति को छोड़ आत्म विचार द्वारा ही मनोनाश के लिए ही प्रयत्न करना श्रेष्ठ साधन है । कारण कि मनोलय के

साधन ध्यान, प्राणायाम द्वारा मनोनाश याने मन का अज्ञान नष्ट नहीं होता है । क्षणिक शान्त मन प्राणायाम बन्द होने के बाद पुन: चंचलता को प्राप्त हो वह पूर्ववत् राग-द्वेष युक्त एवं विषयासक्त हो जाता है । जबकि ज्ञान द्वारा मनोनाश को प्राप्त मन विषयों में प्रवृत्त नहीं होता है एवं आत्मज्ञान द्वारा मुक्ति का अधिकारी बन जाता है । इसलिए मनोलय की अपेक्षा आत्मविचार द्वारा मनोनाश ही श्रेष्ठ है ।

ध्यान द्वारा लय को प्राप्त मन अज्ञान ग्रस्त ही होता है । प्राणायाम काल में भी वह विचार शून्य एवं विषय आसक्ति से तो मुक्त रहता है किन्तु आत्म चिन्तन के मार्ग में मनोलय बाधक एवं प्रतिबन्धक ही है । मनोलय की कठिन प्रक्रिया द्वारा कुछ काल के लिए विचार शून्य अवस्था को प्राप्त होने की अपेक्षा से तो बिना प्रयास प्रति रात्रि सुषुप्ति काल में वह अवस्था सहज ही जीव को प्राप्त हो जाती है । वहाँ विचार शून्यता तथा दृश्य का पूर्ण अभाव कुछ काल तो रहता है, किन्तु जाग्रत काल में पुन: द्वैत प्रपंच उपस्थित हो जाता है । कुछ काल के लिए विचार शून्यता जैसी स्थिति तो **L.S.D. 25**, क्लोरोफार्म, अन्स्थेसिया जैसी अनेक जड़ नशीली औषधियों द्वारा प्राप्त हो सकती है । फिर कठिन प्राणायाम की प्रक्रियाओं द्वारा मनोलय की चेष्टा करने का क्या विशेष लाभ ? केवल प्राण की कसरत एवं कष्ट के अलावा कुछ लाभ नहीं ।

आत्मज्ञानी साधक को यह बात सदा स्मरण रखनी चाहिए कि यह 'मनोलय' मैं नहीं हूँ । यदि मैं ही लय होता तो इसका भान मुझे कैसे होता ? मैं मनोलय नहीं हूँ । मनोलय विषय का मैं द्रष्टा, साक्षी आत्मा उससे भिन्न हूँ ।

अभेद आत्म चिन्तन मनोनाश की अद्भुत महाऔषधि है । इसलिए विचारना चाहिये कि शुद्ध मन व आत्मा एक ही है । कार्य और कारण एक

ही है । जीव तथा ईश्वर, चित्त तथा चैतन्य एक ही है केवल उपाधि से ही भेद है । आत्मा की शक्ति से ही मन तथा प्राण सत्ता प्राप्त करते हैं । रस्सी में सर्प, जल में तरंग, पर्दे पर चित्र, चन्द्रमा में हिरण की तरह आत्मा में मन आरोपित है । अध्यस्थ सर्प अधिष्ठान रस्सी से भिन्न नहीं होता, उसी प्रकार अध्यस्थ मन अधिष्ठान ब्रह्म से भिन्न नहीं बल्कि ब्रह्म ही है । अधिष्ठान का ज्ञान होते ही अध्यस्थ भ्रान्ति स्वतः नष्ट हो जाती है ।

'इन्द्रियाणाम् मनश्चास्मि'

जब मन की सत्ता भिन्न नहीं तब जगत् कहाँ एवं मनोलय या मनोनाश किसका ? आत्मा से भिन्न न मन है, न जीव है, न जगत् है, न बन्धन है । जब द्वैत कोई पदार्थ नहीं तब उसे पाने के लिए अथवा त्यागने के लिए कुछ शेष नहीं रहता । इसलिए आत्म निष्ठावान ज्ञानी पुरुषों के लिए अज्ञानी देहाभिमानी की तरह कुछ भी कर्तव्य कर्म शेष नहीं रहता, वे कृतकृत्य हो जाते हैं । ज्ञानी के लिए शोक, मोह समाप्त हो जाता है, क्योंकि अद्वितीय ब्रह्म चिन्तन से सोऽहम् भाव जाग्रत हो जाता है । अब न कोई नष्ट होने वाला है, न प्राप्त होने वाला । आत्मा से भिन्न किंचित् भी दृष्टिगोचर नहीं होता है । आत्मलाभ से श्रेष्ठ अन्य कुछ नहीं है ।

यं लब्धवा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः

– ६/२२

''आत्मन्येव च सन्तुष्ट स्तस्य कार्यं न विद्यते''

– ३/१६

''सर्व कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते''

– ४/३३

जीवन में अपूर्णता को पूर्ण करने के लिए ही जीव कर्म करता है, किन्तु

ज्ञानी के लिए अपने अखंड आत्म स्वरूप की व्यापकता के बोध के अलावा कुछ प्राप्तव्य नहीं रहता है ।

जिसको साक्षी भाव, अकर्ता भाव, असंग भाव सद्गुरु की कृपा से जाग्रत हो गया उसके शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राण द्वारा क्रिया होने पर भी वह पुण्य-पाप रूप फल को प्राप्त नहीं होता है । जब पुण्य-पाप ही संग्रहित नहीं होते तब जन्म एवं मृत्यु को भी प्राप्त नहीं होता है । क्योंकि 'मैं शरीर हूँ', 'मैं कर्ता हूँ' इस प्रकार अज्ञान का नाश ही मनोनाश कहलाता है ।

● ॐ ●

मन का मिथ्यात्व

सत्य वस्तु तो एक आत्मा है, जो सब देश, काल एवं वस्तु अपरिच्छिन्न है । असत् वस्तु का तो अस्तित्व या प्रतीति ही नहीं जैसे ब्रध्या पुत्र, खरगोश के सींग । किन्तु जो दृश्य सत्य न होकर भी प्रतीत होता है एवं जिसे असत् भी नहीं कह सकते वह मिथ्या कहलाता है । मन सत्य नहीं क्योंकि जाग्रत एवं स्वप्न में नाना विषयाकार प्रतीत होता है एवं सुषुप्ति में उसकी प्रतीति नहीं होती है इसलिए मन सत असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय मिथ्या कहलाता है ।

जैसे पुष्प में गंध, तिल में तेल, काष्ठ में अग्नि, दुग्ध में घृत, गन्ना (साटा, शेरडी, आखु) में गुड़, शक्कर इसी प्रकार देह में जीवात्मा, चित्त में चैतन्य आत्मा है । जैसे रस्सी ही सर्प रूप, स्वर्ण ही अलंकार रूप प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार चैतन्य ही चित्त रूप में, मन रूप में प्रतीत होता है । जैसे

अंधकार के कारण रस्सी सर्प रूप प्रतीत होती है, उसी प्रकार अज्ञान काल में आत्मा ही मन रूप में प्रतीत होता है । जैसे प्रकाश के होते ही सर्प रस्सी अधिष्ठान रूप ही प्रतीत होता है उसी प्रकार आत्म अधिष्ठान के ज्ञान काल में मन आत्मा रूप ही प्रतीत होता है । जैसे रस्सी अधिष्ठान में सर्प तीनों कालों में नहीं, उसी प्रकार आत्मा अधिष्ठान में मन तीनों काल में नहीं है । केवल अद्वितीय, असंग, निर्विकार आत्मा ही रहता है ।

आत्मा में मन के आरोप हुआ है । आत्मा अज्ञान काल में ही मन की प्रतीति होती है । तथा ज्ञान काल में मन की अनुभूति नहीं होती है । जब मन के मिथ्यात्व का बोध हो जाता है तब आत्मा अधिष्ठान ही अनुभव में आता है । अज्ञान काल में अज्ञानी पुरुष की आत्मा ही मन रूप में प्रतीत होती है, जैसे अन्धकार के समय रस्सी ही सर्प रूप भासती है एवं प्रकाश के समय रस्सी ज्ञान होते ही सर्प भ्रान्ति दूर हो जाती है । जिस प्रकार रस्सी ज्ञान के समय अथवा रस्सी अज्ञान के समय रस्सी का ही अस्तित्व रहता है रस्सी से भिन्न सर्प का अस्तित्व नहीं रहता । इसी प्रकार आत्मा अधिष्ठान में मन अध्यस्त (आरोप) है किन्तु आत्मा के ज्ञान अथवा अज्ञान के समय आत्मा का ही अस्तित्व है मन की तो सत्ता ही नहीं है । हाँ, आत्मा अज्ञान के समय ही मन भासित होता है एवं आत्मा के ज्ञान काल में मन का सर्वथा बाध हो जाता है ।

मन के मूल की खोज करने पर मन की सत्ता ही शेष नहीं रहती केवल अद्वितीय आत्मा ही शेष रहती है । जब मन ही नहीं तब मन को नाश करने या लय करने के नाना प्रकार के साधन व्यर्थ परिश्रम मात्र ही है । जब सर्प है नहीं, अन्धकार में रस्सी ही सर्प रूप भास रही है, तब उस सर्प को मारने, भगाने के साधन शस्त्र, लकड़ी, मंत्र, शोर सब व्यर्थ परिश्रम मात्र ही है । तात्पर्य यह है कि जब मन की सत्ता ही नहीं है तब उसके द्वारा चलने वाले

विचारों, एवं मनकी चंचलता से किंचित् भी भयभीत होने की जरूरत नहीं । न मनोलय हेतु प्राणायाम, ध्यानादि साधनों को करने का कष्ट उठाने की जरूरत है ।

आत्मा अधिष्ठान पर मन आरोप उसी प्रकार से है जैसे रस्सी पर सर्प का आरोप । आरोपित वस्तु अधिष्ठान स किन्तु नहीं होती । कार्य वस्तु कारण से कभी भिन्न नहीं होती बल्कि अभिन्न ही होती है । मन व आत्मा में भेद व दूरी नहीं है । विचार मन से भिन्न अपना अस्तित्व नहीं रखते एवं मन आरोप अधिष्ठान आत्मा से भिन्न अपना कुछ अस्तित्व नहीं रखता । मन जब भौतिक पदार्थों का विचार करता है, अनुभव करता है तब पदार्थ विषय ज्ञेय एवं मन ज्ञाता कहलाता है । किन्तु जब मन के बारे में हम सोचते हैं तब मन भी ज्ञेय एवं हम ज्ञान स्वरूप आत्मा ज्ञाता सिद्ध होते हैं । ज्ञेय विषय का ज्ञान तभी होता है जब ज्ञेय एवं ज्ञाता का अभेद होता है तब विषय ज्ञान होता है । इस सिद्धांतानुसार ज्ञाता आत्मा एवं ज्ञेय मन का एकत्व सिद्ध होता है । तात्पर्य यह है कि ज्ञेय मन ज्ञाता आत्मा से भिन्न नहीं है । ज्ञाता मन एवं ज्ञेय विषय मुझ चैतन्य अधिष्ठान आत्मा ऊपर अध्यस्त मात्र है । इसलिए ज्ञाता मन एवं ज्ञेय संसार मुझ अखंड ब्रह्म से भिन्न नहीं बल्कि अभिन्न ही है । जैसे स्वप्न प्रपंच स्वप्न साक्षी से भिन्न नहीं किन्तु अभिन्न ही होता है । जब मैं ही ज्ञेय मन हूँ एवं मैं ही ज्ञाता आत्मा हूँ तब मन को कहाँ से हटा कहाँ लगाया जावे ? जब मैं ही आत्मा मन रूप हूँ तब उसे कैसे नष्ट किया जावे ? मन नाम की कोई वस्तु ही नहीं है । कृष्ण भी कहते हैं

''इन्द्रियाणां मनश्चास्मि''

● ॐ ●

अहंकार क्या है ?

मन निराकार जलवत् है । जल को जिस प्रकार के बर्तन में ढालते है; जल उसी आकृति-सा प्रतीत होता है । इसी प्रकार जो विषय सामने होते हैं मन उसी घट, पटाकार वृत्ति को धारण कर लेता है । अनन्त विषय पदार्थों को धारण करने वाला मन अनन्त वृत्तियों वाला प्रतीत होता है । प्राणायाम साधन द्वारा अनन्त वृत्तियों को साधक लयकर क्षणिक शांति को तो प्राप्त होता है, किन्तु शाश्वत शांति मनोलय द्वारा कदापि नहीं हो पाती है । समुद्र की लहरों को शांत देखना जैसे असम्भव है उसी प्रकार मन को जाग्रत व स्वप्न काल में शांत करना दुर्लभ है । वृत्तियों का प्रवाह ही मन है । पांचों इन्द्रिय द्वारों से निराकार मन बाहर जाकर पंच विषयों की आकृति को धारण कर विषयाकार प्रतीत होता है ।

जगत्में दो प्रकार की वृत्ति है एक तो 'यह' रूप इदम् रूप तथा दूसरी 'अहम्' या 'मैं' रूप ।

यह घड़ा, यह मकान, यह मोटर, यह चश्मा, यह गाय, इस प्रकार विषयाकार वृत्ति को 'इदम्' यह रूप वृत्ति कहते हैं एवं इन समस्त विषयों को इदम् वृत्ति को जानने वाला मैं ही अहंवृत्ति रूप कहलाता है । घड़ा इदम् वृत्ति संज्ञा में एवं घड़े को जानने वाला मैं अहम् वृत्ति रूप में पहचाना जाता है । इदम् वृत्ति 'यह' रूपा वृत्ति अनेक होती है अनन्त होती है जबकि इन अनन्त वृत्तियों की प्रकाशिका 'अहम्' मैं वृत्ति एक ही है । 'अहम्' के बिना 'इदम्' का ज्ञान नहीं हो सकता । इस अहम् वृत्ति को जो समस्त 'इदम्' यह रूप विषयों की प्रकाशिका है इसे ही अहंकार कहते हैं ।

इस अहम् वृत्ति का मूल एक मात्र सत्य आत्मा ही है किन्तु अज्ञानता

के कारण 'इदम्' में जुड़कर मैं कर्ता-भोक्ता, स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर, तीन अवस्था, पचंकोष, षट्विकारी शरीर हूँ ऐसा मिथ्या अभिमान कर जन्म-मरण भ्रांति में जीव भटकता या कष्ट पाता रहता है । स्वयं निराकार होकर साकार एवं चैतन्य होकर जड़, मुक्त होकर बन्धन, अकर्ता होकर कर्ता, अशरीरी होकर शरीर, अजन्मा होकर भी जन्मने वाला तथा अमृत होकर भी मृत मानता है । इस प्रकार नाना वृत्तियों में मैं-मैं उद्घोष करने वाला अहंकार ही है । द्रष्टा होकर भी अपना परिचय दृश्य के रूप में देता है कि मैं यह हूँ, मैं वह हूँ ।

सुषुप्ति अवस्था में इस मिथ्या अभिमानी अहंकारी जीव की पोल खुल जाती है । सुषुप्ति में न स्वप्न का भान रहता है न जाग्रत प्रपंच का ज्ञान रहता है; क्योंकि उस अवस्था में समस्त भेद का जनक अहंकारी मन ही आत्मानन्द में खो जाता है । वहाँ मैं मोहन डॉक्टर, मास्टर, इन्जीनियर, करोड़पति, प्रधानमंत्री हूँ इस प्रकार का मिथ्या अभिमान नहीं रहता । इसीलिये वहाँ कोई विषयाकार वृत्ति 'इदम्' वृत्ति नहीं रहती है । 'अहम्' वृत्ति ही अनन्त 'इदम्' वृत्ति का केन्द्र है । जाग्रत में अहंवृत्ति के होते ही सुषुप्ति काल के समय जो इदम् वृत्ति का अभाव कुछ काल के लिये हुआ था पुन: विराट वृत्तियों की लहरें समुद्र वत प्रकट होने लग जाती हैं । अहंवृत्ति के बिना इदं वृत्ति रह ही नहीं पाती । इदम् वृत्ति का मूल अहम् वृत्ति के नाश से समस्त इदम् वृत्ति का नाश स्वयं ही हो जाता है । एक-एक वृत्ति के नाश करने का व्यर्थ परिश्रम करने की जरूरत नहीं । और अहम् वृत्ति का नाश हो जाना ही अमन स्थिति है । किन्तु यह अहंवृत्ति का नाश सदा के लिये कैसे हो ? अब यह मुख्य समस्या पर विचार करना ही कर्त्तव्य रूप है । अहंकार ही मन एवं मन ही अहंकार है ।

● ॐ ●

अहंकार का नाश

सुषुप्ति में मन तो वहाँ नहीं है इसलिये मैं हूँ यह अहंकार वृत्ति भी नहीं होती । जब मन नहीं तो कौन मैं-मेरे का भेद कथन करे ? अहंकार नहीं तो मन नहीं, मन नहीं तो अहंकार किसका कौन करे । अज्ञान से ही द्वैत भासता है । अहंकार क्या है ? इसके मूल को खोजने से आत्मा ही मात्र रहती है अहंकार का नाश हो जाता है एवं मन क्या है ? इस विचार की खोज में मन का नाश हो जाता है । मन आत्मा पर आरोप मात्र है । अध्यस्त वस्तु मन, अधिष्ठान आत्मा से भिन्न कुछ रहता नहीं । जैसे मंद अंधकार में रस्सी के स्थान पर दिखाई पड़ने वाला सर्प क्या है ? इस सर्प की खोज में सर्प नहीं, रस्सी ही हाथ आती है । इसी प्रकार अहंकार की खोज में जाने पर आत्मा अधिष्ठान ही अनुभव में आता है अहंकार का अभाव रूप नाश हो जाता है ।

मैं ही अहंकार का आधार-अधिष्ठान ब्रह्म आत्मा हूँ । अधिष्ठान का ज्ञान करते ही अध्यस्त वस्तु बिना स्पर्श किये स्वत: ही नाश (अभाव) को प्राप्त हो जाती है । जैसे रस्सी अधिष्ठान के ज्ञान होते ही सर्प अध्यस्त को बिना स्पर्श किये ही उसका पतन हो जाता है । इसी प्रकार अहंकार अध्यस्त के अधिष्ठान आत्म वस्तु का बोध होते ही अहंकार का बिना स्पर्श किये ही नाश हो जाता है ।

जिस अधिष्ठान के अज्ञान से भ्रम उदय होता है उसी अधिष्ठान के ज्ञान से उस उदय भ्रम का नाश होता है । जैसे रस्सी अज्ञान से सर्प भ्रम की प्रतीति होती है, उसी अधिष्ठान रस्सी ज्ञान से सर्प का नाश होता है । इसी प्रकार अधिष्ठान आत्मा के अज्ञान से अहंकार की उत्पत्ति होती है एवं अधिष्ठान आत्मा के ज्ञान से अहंकार का नाश हो जाता है । अर्थात् जिसमें से जिसका उदय होता है उसी में उसका नाश या लय होता है । कार्य सदा

कारण में ही लीन होता है । अहंकार का नाश आत्मा में होने के बाद आत्मा ही शेष रहती है वही चैतन्य असंग, अखंड, निर्विकार अपरोक्ष आत्मा मैं हूँ ।

अहंकार का जन्म आत्म अज्ञान में से ही होता है । जैसे रस्सी अज्ञान से ही सर्प की उत्पत्ति होती है एवं रस्सी के ज्ञान से ही सर्प का नाश होता है उसी प्रकार आत्मा के ज्ञान से ही अहंकार सत्ता शून्य हो जाता है एवं आत्मा स्वयं शेष रह स्वयं से प्रकाशित होती रहती है । अहंकार का सुषुप्ति में प्रतिदिन अस्त एवं जाग्रत में उदय होने को स्वयं प्रकाश आत्मा ही प्रकाशित करता है ।

आत्मा द्वारा बुद्धि, मन, नेत्र तथा विषय का प्रकाश होता है इसलिए आत्मा सत, चित है आत्मा को छोड़ सभी असत् एवं पर प्रकाश्य है । जहाँ वस्तु जड़ होती है वहाँ उसका प्रकाशक चैतन्य उससे भिन्न रहता है किन्तु जहाँ वस्तु चैतन्य होती है वहाँ उसकी वही प्रकाशिका होती है । जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा, ध्यान, समाधि आदि जड़ अवस्थाओं का प्रकाशक मैं सत, चित आत्मा हूँ । मैं सबको जानता हूँ किन्तु कोई अवस्था, वस्तु काल मुझे नहीं जानते । 'मेरी' 'मेरा' शब्दों द्वारा जो कुछ जाना जाता है वह मुझसे पृथक्, दृश्य, जड़, विकारी एवं विनाशी वस्तु है एवं मैं द्रष्टा, चैतन्य, अविकारी, अखंड सच्चिदानन्द आत्मा हूँ । मैं ''आत्मा हूँ'' यह कहने वाला जड़ नहीं हो सकता । 'आत्मा नहीं' ऐसा कहने वाला नास्तिक भी स्वयं चैतन्यात्मा ही है । जड़ वस्तु किसी अन्य पदार्थ के 'है' या 'नहीं' का साक्षी ज्ञाता नहीं हो सकता । ''सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म'' जो सत एवं चित होता है उसका अन्त न होने से वह अनन्त ब्रह्म स्वरूप ही होता है । इस प्रकार मैं सत्य, ज्ञान एवं अविनाशी पर ब्रह्म ही हूँ । ऐसा निश्चय ही वास्तविक मनोनाश है । आत्म विचार द्वारा ही मनोनाश होता है योग साधन

से मनोलय क्षणिक हो फिर जाग जाता है । बस आज इतना ही शेष 'मन की जाने राम' ।

आप सभी ने मन की बात प्रेम पूर्वक सुनी उसके लिये यह मन आपका आभारी है ।

● ॐ ●

भजन १

ब्रह्मज्ञानी गुरु पाने के लिये,
हस्ति को मिटाना पड़ता है ।
जिस ब्रह्म को देव न पा सके,
यह जीव ब्रह्म हो जाता है ।।

भगवान का मिलना कठिन नहीं,
सतगुरु को पाना मुश्किल है ।
मन्दिर में गया तीरथ में फिरा,
पर मिला न मुक्ति का द्वार कहीं ।।

जीवन मुक्ति पाने के लिये,
गुरु द्वारे जाना पड़ता है ।
सत्गुरु को रिझाने के लिये
सिर भेंट चढ़ाना पड़ता है ।।

जहाँ श्रद्धा हटी या अहं बढ़ा,
वह योग भ्रष्ट हो जाता है ।
श्रद्धा के सुमन हृदय में रख,
तन मन अर्पण करना है ।।